UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180647

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H 81.6 | D58Ne Accession No. G.H. 989
Author दिनकर |
Title नीम कुसुम | 1954
This book should be returned on or before the date last marked below.

नील कुसुम

रामधारी सिंह दिनकर

सोल एजेंट
श्री अजन्ता प्रेस, लिमिटेड
नया टोला, पटना - ४

प्रकाशक
उदयाचल, पटना

[सभी स्वत्व लेखक के अधीन]

प्रथम संस्करण, १९५४ ई०

मूल्य ३) रुपये

मुद्रक
ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स लिमिटेड
३६, बाराणसी घोष स्ट्रीट
कलकत्ता – ७

दो शब्द

पिछले कोई पाँच वर्षों में मैंने जो थोड़ी-सी स्फुट कविताएँ लिखी, 'नील कुसुम' उन्हीं में कुछ का संग्रह है। इस अवधि में लिखी हुई मेरी कुछ नई कविताएँ 'दिल्ली' और 'नीम के पत्ते' नामक संग्रहों में भी गई हैं। इसी प्रकार, पाँच-सात ऐसी कविताएँ भी हैं, जो पहले के संग्रहों में निकल चुकी थीं। उन्हें मैंने 'नील कुसुम' में इसलिए सम्मिलित कर दिया है कि उनकी अन्तर्धारा और तकनीक 'नील कुसुम' की कविताओं में अधिक मेल खाती है।

कविताएँ रचना तो कवि अपने आनन्द के लिए है, किन्तु, संग्रह प्रकाशित करने में उसका उद्देश्य पाठकों को आनन्द देना होता है। लेकिन, सभी पाठक सभी प्रकार का आनन्द नहीं ले सकते। इसलिए, आलोचना अनिवार्य हो जाती है। आलोचना काव्य में प्रयुक्त कौशल का रहस्य उद्घाटित करती है; उस मार्ग का भेद खोलती है, जिस पर चलकर कवि ने अपने भावों को अभिव्यक्त किया है, अपनी कविता में आनन्द, प्रभाव या चमत्कार उत्पन्न किया है। इसीलिए, रचनात्मक आलोचना के पढ़ने से पाठक की आनन्दग्राहिणी योग्यता का प्रसार होता है। प्रत्येक नया कवि आलोचक से आलोचना की नई कसौटी की माँग करता है, क्योंकि आलोचक नये कवि को पुरानी कसौटी पर कसके उसके साथ न्याय नहीं कर सकता। इसीलिए, जब भी कविता में नवीनता आती है, तब आलोचना भी ईषत् नवीन हो जाती है।

ये सारी बातें मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि जिस कसौटी पर 'रेणुका', 'रसवन्ती', 'हुंकार' और 'सामधेनी' की कविताएँ कसी गई हैं, उस पर 'नील कुसुम' की कविताओं को कसना ठीक नहीं होगा। ये 'उतार की कविताएँ' हो सकती हैं, किन्तु, ये सर्वथा नवीन हैं और इनकी तकनीक काफी लम्बे अनुभव से ही निकली है। विचित्र बात है कि 'नील कुसुम' के रचयिता के सहज बन्धु 'रेणुका' और 'हुंकार' के रचयिता नहीं, वरन् वे लोग हैं जिन्हें, सही नाम के अभाव में, हम प्रयोगवादी कहने लगे हैं। किन्तु, मैं प्रयोगवाद का अगुआ नहीं, पिछलगुआ कवि हूँ, क्योंकि 'नील कुसुम' की कविताओं की रचना के बहुत पहले ही 'तारसप्तक' की गूंज देश में खूब छा चुकी थी।

हिन्दी-कविता में जो नवीनतम क्षितिज झलकने लगा है, उसे लेकर सभ्रान्त आलोचकों में काफी मतभेद है। किन्तु, मैं बड़े उत्साह में हूँ। छठी सदी

में भामह ने यह प्रश्न उठाया था कि कविता की आत्मा क्या है। कविता की आत्मा उन्होंने अलंकार को माना। किन्तु, आगे चलकर वामन को यह बात ठीक नही जँची। कारण, अलंकार का रमणी के लिए जितना महत्त्व है, कविता के लिए उससे अधिक नहीं हो सकता। अतएव, वामन भामह की अपेक्षा कुछ अधिक गहराई में गये और उन्होंने कहा, कविता की आत्मा रीति हो सकती है। रीति क्या है? कवि बराबर अपने लिए एक ऐसी राह बनाता है, जो पहले नही थी; यह रीति है। संसार में मनुष्य रोज पैदा होते हैं, किन्तु, दो मनुष्य एक समान नहीं होते; यह रीति है। प्रत्येक कवि प्रत्येक दूसरे कवि से भिन्न होता है; यह रीति का प्रमाण है। रीति बड़ी ही गहराई का अनुसन्धान थी, किन्तु, खोज वही तक नहीं रुकी। भामह से वामन तक जो प्रगति हुई थी, उसका लाभ आनन्दवर्धन ने उठाया, और उन्होंने घोषणा की कि कविता की आत्मा ध्वनि है। अर्थात् कविता वह नही है, जो कहा जाता है, बल्कि वह जिसकी ओर संकेत किया जाता है। मेरा विचार है, सारे संसार की आलोचनाओं को निचोड़ डालें, तब भी उससे अधिक गहरी बात का पता नहीं चलेगा, जिसका पता ध्वनिकार को चला था।

कुछ वैसा ही प्रश्न हमारे समय में भी उठने लगा है, यद्यपि, इस बार यह समस्या आलोचकों के आगे नहीं, कवियों के सामने है। नये कवि, व्याजान्तर से, इसी बात का प्रयोग कर रहे हैं कि कितने ऐसे उपकरण हैं, जिहें छोड़कर भी कविता कविता रह जायगी। सिद्ध है कि कविता बिना छन्द के भी हो सकती है; इसलिए, छन्द त्यक्त हो रहे हैं। सिद्ध है कि कविता केवल कोमल शब्दों के जोड़ में नही है; इसलिए, कोमलता की परंपरा टूट रही है। सिद्ध है कि कविता के विषय निर्धारित नही किये जा सकते; इसलिए, अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित विषय कविता में भरते जा रहे हैं। रवि बाबू ने कहा था कि यदि किसी को स्वस्थ, सुविकच और सुनवीन पुष्पों के बदले घुन लगे हुए अन्धे काने फूल ही पसन्द आते हों, तो उन से प्रेम करने का उसे पूरा अधिकार है। इस उक्ति में जो व्यंग्य था, वह तो कपूर के समान उड़ गया; जो बाकी बचा, उसका उपयोग आज कवि के जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप में किया जा रहा है।

हिन्दी में जो कुछ हो रहा है, उसे इलियट आदि अंगरेजी कवियों का अन्धानुकरण नही कहना चाहिए। अनुकरण का काम दो-चार या दस आदमी कर सकते हैं। पूरी-की-पूरी पीढ़ी अनुकरण के रोग से ग्रसित हो, ऐसा मानने का

कोई ठोस आधार नही है। मेरा अनुमान है कि जिन अवस्थाओं ने इंग्लण्ड में नये कवियों को उत्पन्न किया, उनसे मिलती-जुलती अवस्थाएँ अपने यहाँ के बुद्धिजीवियों को भी अनुभूत होने लगी है। इसलिए, उनमें और यूरोपीय कवियों में थोड़ा बहुत साम्य दिखलाई दे रहा है। कोलाहल तो बड़े जोर का है और लगता भी ऐसा ही है कि लड़के अपने पुरखों के कलात्मक असबाबों को तोड़-फोड़ कर ही दम लेंगे। किन्तु, यह नवागम का भी रोर हो सकता है। संभव है, बाढ़ मे बहकर बहुत-से ऐसे लोग भी आ गये हों, जो कवि नही है। किन्तु भविष्य पर जिनके पजों की छाप पड़नेवाली है, वे कवि-पुगव भी इसी झुड मे छिपे हुए हैं। नई आलोचना का धर्म है कि वह उन्हे भीड़ से ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढे की व्यवस्था करे। जहाँ भविष्य के ये पुरोधा बैठेंगे, वहीं किसी कोने मे 'नील कुसुम' भी पायन्दाज का काम देगा। यह नकली विनय नही, हृदय की सच्ची आवाज है। हिन्दी-कविता का आकाश बदल रहा है। जो नया क्षितिज सामने चमक रहा है, उसी की ओर खड़ा होकर मैं स्वागत मे 'नील कुसुम' बिखेरता हूँ। ये आशीर्वाद के अक्षत नही, सचमच ही, जवानी की पूजा के फूल है।

नई दिल्ली
दिसम्बर, १९५४ ई०

रामधारी सिंह दिनकर

में भामह ने यह प्रश्न उठाया था कि कविता की आत्मा क्या है। कविता की आत्मा उन्होंने अलकार को माना। किन्तु, आगे चलकर वामन को यह बात ठीक नहीं जँची। कारण, अलंकार का रमणी के लिए जितना महत्त्व है, कविता के लिए उससे अधिक नही हो सकता। अतएव, वामन भामह की अपेक्षा कुछ अधिक गहराई मे गये और उन्होंने कहा, कविता की आत्मा रीति हो सकती है। रीति क्या है? कवि बराबर अपने लिए एक ऐसी राह बनाता है, जो पहले नहीं थी; यह रीति है। संसार में मनुष्य रोज पैदा होते है, किन्तु, दो मनुष्य एक समान नहीं होते; यह रीति है। प्रत्येक कवि प्रत्येक दूसरे कवि से भिन्न होता है; यह रीति का प्रमाण है। रीति बड़ी ही गहराई का अनुसन्धान थी, किन्तु, खोज वहीं तक नहीं रुकी। भामह से वामन तक जो प्रगति हुई थी, उसका लाभ आनन्दवर्धन ने उठाया, और उन्होंने घोषणा की कि कविता की आत्मा ध्वनि है। अर्थात् कविता वह नही है, जो कहा जाता है, बल्कि वह जिसकी ओर संकेत किया जाता है। मेरा विचार है, सारे संसार की आलोचनाओं को निचोड़ डालें, तब भी उससे अधिक गहरी बात का पता नहीं चलेगा, जिसका पता ध्वनिकार को चला था।

कुछ वैसा ही प्रश्न हमारे समय में भी उठने लगा है, यद्यपि, इस बार यह समस्या आलोचकों के आगे नहीं, कवियों के सामने है। नये कवि, व्याजान्तर से, इसी बात का प्रयोग कर रहे है कि कितने ऐसे उपकरण हैं, जिहें छोड़कर भी कविता कविता रह जायगी। सिद्ध है कि कविता बिना छन्द के भी हो सकती है; इसलिए, छन्द त्यक्त हो रहे है। सिद्ध है कि कविता केवल कोमल शब्दों के जोड़ मे नही है; इसलिए, कोमलता की परंपरा टूट रही है। सिद्ध है कि कविता के विषय निर्धारित नही किये जा सकते; इसलिए, अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित विषय कविता में भरते जा रहे हैं। रवि बाबू ने कहा था कि यदि किसी को स्वस्थ, सुविकच और सुनवीन पुष्पों के बदले घुन लगे हुए अन्धे काने फूल ही पसन्द आते हों, तो उन से प्रेम करने का उसे पूरा अधिकार है। इस उक्ति में जो व्यंग्य था, वह तो कपूर के समान उड़ गया; जो बाकी बचा, उसका उपयोग आज कवि के जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप में किया जा रहा है।

हिन्दी में जो कुछ हो रहा है, उसे इलियट आदि अंगरेजी कवियों का अन्धानुकरण नही कहना चाहिए। अनुकरण का काम दो-चार या दस आदमी कर सकते हैं। पूरी-की-पूरी पीढ़ी अनुकरण के रोग से ग्रसित हो, ऐसा मानने का

कोई ठोस आधार नहीं है। मेरा अनुमान है कि जिन अवस्थाओं ने इंग्लण्ड मे नये कवियों को उत्पन्न किया, उनसे मिलती-जुलती अवस्थाएं अपने यहाँ के बुद्धिजीवियो को भी अनुभूत होने लगी है। इसलिए, उनमें और यूरोपीय कवियों मे थोड़ा बहुत साम्य दिखलाई दे रहा है। कोलाहल तो बड़े जोर का है और लगता भी ऐसा ही है कि लड़के अपने पुरखों के कलात्मक असवाबों को तोड़-फोड़ कर ही दम लेंगे। किन्तु, यह नवागम का भी रोर हो सकता है। संभव है, बाढ़ मे बहकर बहुत-से ऐसे लोग भी आ गये हों, जो कवि नही है। किन्तु भविष्य पर जिनके पंजों की छाप पड़नेवाली है, वे कवि-पुगव भी इसी झुड मे छिपे हुए है। नई आलोचना का धर्म है कि वह उन्हे भीड मे ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढे की व्यवस्था करे। जहाँ भविष्य के ये पुरोधा बैठेंगे, वही किसी कोने में 'नील कुसुम' भी पायन्दाज का काम देगा। यह नकली विनय नहीं, हृदय की सच्ची आवाज है। हिन्दी-कविता का आकाश बदल रहा है। जो नया क्षितिज सामने चमक रहा है, उसी की ओर खड़ा होकर मै स्वागत मे 'नील कुसुम' बिखेरता हूँ। ये आशीर्वाद के अक्षत नही, सचमच ही, जवानी की पूजा के फूल है।

नई दिल्ली
दिसम्बर, १९५४ ई०

रामधारी सिंह दिनकर

समर्पण

हिन्दी-कवियों की उस नई पीढ़ी को,
जो उपेक्षा और अन्धकार को चीरकर
बाहर आ रही है।

झाँकी उस नई परिधि की जो है दीख रही कुछ थोड़ी-सी,
क्षितिजों के पास पड़ी पतली चमचम सोने की डोरी-सी।
छिलके उठते जा रहे, नया अंकुर मुख दिखलाने को है,
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा, आकाश नया आने को है।

—दिनकर

विषय-सूची

नील कुसुम	.. ..	१
चाँद और कवि	.. ..	४
दर्पण	.. ..	६
व्याल-विजय	.. ..	८
स्वप्न और सत्य	.. ..	१२
भावी पीढी से	.. ..	१७
नीरव प्रकाश	.. ..	१९
सबसे बड़ी आवाज	.. ..	२०
पावस-गीत	.. ..	२२
चन्द्राह्वान	.. ..	२३
ये गान बहुत रोये	.. .	२४
गायक	.. ..	२६
नर्त्तकी	.. ..	२८
कवि की मृत्यु	.. ..	३२
नयी आवाज	.. ..	३५
सकेत	.. ..	३७
जीवन	.. ..	३८
आनन्दातिरेक	.. ..	४०
सेतु-रचना	.. ..	४१
अमरता	.. ..	४३
अशब्द	.. ..	४४
नासदीय	.. ..	४६
इच्छाहरण	.. ..	४८
तुम क्यों लिखते हो ?	.. ..	४९
नग्नता	.. ..	५२
गृह-रचना	.. ..	५४
जनतंत्र का जन्म	.. ..	५८
स्वर्ग के दीपक	.. ..	६०

संस्कार	.. ..	६२
काँटों का गीत	.. ..	६४
नीव का हाहाकार	.. ..	६६
शबनम की जंजीर	.. ..	७१
भूदान	.. ..	७३
आशा की वंशी	.. ..	७५
कवि और समाज	.. ..	७६
किसको नमन करूँ मै ?	.. ..	८१
अर्धनारीश्वर	.. .	८४
राष्ट्रदेवता का विसर्जन	.. ..	८६
लोहे के पेड़ हरे होंगे	.. ..	८६
हिमालय का संदेश	.. ..	९२

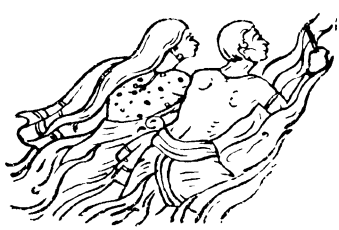

वर्षा का मौसिम गया, बाढ़ भी साथ गयी,
जो बचा शेष, वह स्वच्छ नीर का सोता है।
अब चाँद और तारे इसमें निज को देखें,
आसिन का जल बिलकुल दर्पण-सा होता है।

नील कुसुम

ओ' सुना कहाँ तुमने कि जिन्दगी कहते हैं,
सपनों ने देखा जिसे, उसे पा जाने को?
इच्छाओं की मूर्त्तियाँ घूमतीं जो मन में,
उनको उतार मिट्टी पर गले लगाने को?

जिन्दगी, आह! वह एक झलक रंगीनी की,
नगी उँगली जिसको न कभी छू पाती है,
हम जभी हाँफते हुए चोटियों पर चढ़ते,
वह खोल पख चोटियाँ छोड उड़ जाती है।

रंगीनी की वह एक झलक, जिसके पीछे
है मची हुई आपा-आपी मस्तानों में,
वह एक दीप जिसके पीछे है डूब रही
दीवानों की किश्तियाँ कठिन तूफानों में।

डूबती हुई किश्तियाँ! और यह किलकारी!
ओ नीतिकार! क्या मौत इसी को कहते है?
है यही खौफ, जिससे डरकर जीनेवाले
पानी मे अपना पाँव समेटे रहते है?

जिन्दगी गोद में उठा-उठा हलराती है
आशाओं की भीषिका झेलनेवालों को;
ओ' बड़े शौक से मौत पिलाती है जीवन
अपनी छाती से लिपट खेलनेवालों को।

तुम लाशें गिनते रहे खोजनेवालों की,
लेकिन, उनकी असलियत नहीं पहचान सके;
मुरदों में केवल यही जिन्दगीवाले थे
जो फूल उतारे विना लौट कर आ न सके।

नील कुसुम

हो जहाँ कहीं भी नील कुसुम की फुलवारी,
मैं एक फूल तो किसी तरह ले जाऊँगा,
जूड़े में जब तक भेंट नहीं यह बाँध सकूँ,
किस तरह प्राण की मणि को गले लगाऊँगा ?

१९५० ई० ।

चाँद और कवि

रात यों कहने लगा मुझ से गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है!
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते,
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न? है वह बुलबुला जल का,
आज बनता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु, तो भी धन्य; ठहरा आदमी ही तो!
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।

मैं न बोला, किन्तु, मेरी रागिनी बोली,
चाँद! फिर से देख, मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं? है यही पानी?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ ;
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह, दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है ;
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढते जा रहे हैं ये ;
रोकिये, जैसे बने, इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं ये।"

१९४६ ई०]

दर्पण

जा रही देवता से मिलने ?
तो इतनी कृपा किये जाओ।
अपनी फूलों की डाली में
दर्पण यह एक लिये जाओ।

आरती, फूल, फल से प्रसन्न
जैसे हों, पहले कर लेना ;
जब हाल धरित्री का पूछें,
सम्मुख दर्पण यह धर देना।

बिम्बित है इसमें पुरुष पुरातन
के मानस का घोर भँवर ;
है नाच रही पृथ्वी इसमें,
है नाच रहा इसमें अम्बर।

यह स्वयं दिखायेगा उनको
छाया मिट्टी की चाहों की,
अम्बर की घोर विकलता की,
धरती के आकुल दाहों की।

दर्पण

ढहती मीनारों की छाया,
गिरती दीवारों की छाया,
बेमौत हवा के झोंके में
मरती झंकारों की छाया।

छाया छाया - ब्रह्माणी की
जो गीतों का शव ढोती है,
भुज में वीणा की लाश लिये
आतप से बचकर सोती है।

झाँकी उस भीत पवन की जो
तूफानों से है डरा हुआ;
उस जीर्ण खमंडल की जिसमें
आतंक-रोर है भरा हुआ।

हिलती वसुधरा की झाँकी,
बुझती परम्परा की झाँकी;
अपने में सिमटी हुई, पलित
विद्या अनुर्वरा की झाँकी।

झाँकी उस नई परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी;
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी-सी।

छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है;
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है।

व्याल-विजय

झूमे जहर चरण के नीचे, मैं उमंग मे गाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(१)

यह बाँसुरी बजी माया के मुकुलित आकुंचन में,
यह बाँसुरी बजी अविनाशी के संवेश गहन में;
अस्तित्वों के अनस्तित्व में, महाशान्ति के तल में,
यह बाँसुरी बजी शून्यासन की समाधि निश्चल में।
कंपहीन तेरे समुद्र में जीवन-लहर उठाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(२)

अक्षय-वट पर बजी बाँसुरी, गगन मगन लहराया,
दल पर विधि को लिये जलधि में नाभि-कमल उग आया।
जन्मी नव चेतना, सिहरने लगे तत्त्व चलदल-से,
स्वर का ले अवलम्ब भूमि निकली प्लावन के जल से।
अपने आर्द्र वसन की वसुधा को फिर याद दिलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(३)

फूली सृष्टि नाद-बन्धन पर, अब तक फूल रही है,
बंसी के स्वर के धागे में धरती झूल रही है।
आदि छोर पर जो स्वर फूंका, पहुँचा अन्त तलक है,
तार-तार में गूंज गीत की, कण-कण बीच झलक है।
आलापों पर उठा जगत को भर-भर पेंग झुलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(४)

जगमग ओस-विन्दु गुँथ जाते साँसों के तारों में,
गीत बदल जाते अनजाने मोती के हारों में।
जब-जब उठता नाद, मेघ मंडलाकार घिरते हैं,
आस-पास बसी के गीले इन्द्रधनुष तिरते हैं।
बाँधूं मेघ कहाँ बंसी पर? सुरधनु कहाँ सजाऊँ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(५)

इस बंसी के मधुर नाद पर माया डोल चुकी है,
पटावरण कर दूर भेद अन्तर का खोल चुकी है।
झूम चुकी है प्रकृति चाँदनी में मादक गानों पर,
नचा चुका हूँ महानर्तकी को इसकी तानों पर।
विषवर्षी पर अमृतवर्षिणी का जादू दिखलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(६)

उड़े नाद के जो कण ऊपर, वे बन गये सितारे,
जो नीचे रह गये, कहीं हैं फूल, कहीं अंगारे।

भींगे अधर कभी बंसी के शीतल गंगाजल से,
कभी प्राण तक झुलस उठे हैं इसके हालाहल से।
शीतलता पीकर प्रदाह से कैसे हृदय चुराऊँ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(७)

यह बाँसुरी बजी, मधु के सोते फूटे मधुवन में,
यह बाँसुरी बजी, हरियाली दौड़ गई कानन में।
यह बाँसुरी बजी, प्रत्यागत हुए विहंग गगन से,
यह बाँसुरी बजी, सट कर विधु चलने लगा भुवन से।
अमृत-सरोवर में धो-धो तेरा भी जहर बहाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(८)

यह बाँसुरी बजी पनघट पर कालिन्दी के तट में,
यह बाँसुरी बजी मुरदों के आसन पर मरघट में।
बजी निशा के बीच आलुलायित केशों के तम में,
बजी सूर्य के साथ यही बाँसुरी रक्त-कर्दम में।
कालियदह में मिले हुए विष को पीयूष बनाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(९)

फूंक-फूंक विष-लपट, उगल जितना हो जहर हृदय में,
यह बंसी निर्गरल, बजेगी सदा क्षान्ति की लय में।
पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मतवाला?
मैं हूँ साँपों की पीठों पर कुसुम लादनेवाला।
विषदह से चल निकल, फूल से तेरा अंग सजाऊँ।
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(१०)

ओ शंका के व्याल ! देख मत मेरे श्याम वदन को,
चक्षुःश्रवा ! श्रवण कर बंसी के भीतर के स्वन को।
जिसने दिया तुझे विष, उसने मुझको गान दिया है,
ईर्ष्या तुझे उसीने मुझको भी अभिमान दिया है।
इस आशिषके लिए भाग्यपर क्यों न अधिक इतराऊँ ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(११)

विषधारी ! मत डोल कि मेरा आसन बहुत कड़ा है,
कृष्ण आज लघुता में भी साँपों से बहुत बड़ा है।
आया हूँ बाँसुरी-बीच उद्धार लिये जनगण का,
फण पर तेरे खड़ा हुआ हूँ भार लिये त्रिभुवन का।
बढ़ा, बढ़ा नासिका, रन्ध्र में मुक्ति-सूत्र पहनाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

१९४९ ई०]

स्वप्न और सत्य

तबीयत चाहती है, बात कुछ तुमको सुनाऊँ,
मगर, तुम कौन हो जो पंक्ति मेरी पढ़ रहे हो ?

कला के पारखी हो ? चाँदनी के चाहनेवाले ?
हवा की साँस में जो दर्द है उसको समझते हो ?
बिताई है कभी क्या पूर्णिमा की रात खेतों में
खड़ी हरियालियों को देखते, बोले बिना कुछ भी ?

पहाड़ों को कभी क्या देखकर यह भाव जागा है,
तुम्हारी और उनकी रूह आपस में सहेली हैं ?

सितारों की सभा में बैठते हो ? घूमते हो क्या
उषा के जावकों में और संध्या के जुही-वन में ?
जवानी की लटों को देख मन करवट बदलता है ?
भरे-उभरे बदन से क्या घनों की याद आती है ?

रखा है याद सौ में एक कोई गीत वह चुनकर
कि जिस में रूपसी कोई सरोवर में नहाती हो,
पलों के दो दलों पर, बाहु-मूलों पर, कपोलों पर

झलकते हों फुहारे शुभ्र जल के मोतियों-जैसे,
कमल-दल पर सुबह में जिस तरह शबनम चमकती है?

बुलाते हैं इशारों से कभी वे स्वप्न तुमको भी
हमारे हाथ से दो इंच जो आगे बने रहते?
न छू सकते जिन्हें हम औ' न जिनको छोड़ ही सकते,
यही दो इंच की दूरी हजारों कोस बन जाती।
मगर, बेचैनियों से रोशनी कैसी उमड़ती है?

तुम्हें भी रात के सुनसान में आकाश पर दिखते
किसी की माँग के मोती, किसी के हाथ का दर्पण?
किसी के मुक्त कुंतल-जाल लहराते हुए घन-से
कि जिनमें से चमेली के हजारों फूल झरते हैं?

अहा! क्या बात? ये आकाशवाली सूरतें भोली,
कि जिनके नाम से आहट नई महसूस होती है;
हृदय में सुगबुगा उठती जुही के फूल-सी कविता,
लहू में रेंगने लगते हजारों साँप सोने के।

सुकेशी, उर्वशी, रंभा, मृणाली, मेनका, शीला,
न किसके नाम में वैकुंठ सिमटा झिलमिलाता है?
न किसके नाम से ही प्राण जगकर बैठ जाते हैं,
समझकर, यह किसी संगीत की पहली कड़ी होगी?

जरा लो नाम, फिर दोनों दृगों को मूँदकर सूँघो,
तुम्हारे घ्राण में संपूर्ण दिव की गंध आयेगी।

प्रणय की चिर-किशोरी मूर्त्तियों को काम ही क्या है?
सदा किलकारियाँ भरना, मचलते, खेलते रहना
कभी मंदार के नीचे, कभी मंदाकिनी-तट पर।

न इनकी आयु बढ़ती है, न इनका रूप घटता है,
बुढ़ापा क्या ? जवानी ही कभी ढीली नहीं होती।

किसी की कुक्षि की कोंपल ? नहीं, ये कल्पनाएँ हैं।
निकलती है जवानी की उमंगों से परी उस दिन
मनुज का मन भरे मधुमास में जिस रोज होता है।

टँगे हैं कल्पना की खूँटियों पर चित्र वे, जिनमें
अछूते रंग में हिलडुल मनुज की प्यास जलती है।

कुहासे में, धुएँ में रग के तूफान पर चढ़कर
हवा पर दौड़ना भी खूब है आगे अगर कोई
परी संकेत करती हो कि मन का देवता उगकर
बुलाता हो तिमिर में फिर बुलाकर डूब जाता हो।

बड़ा आनंद है रगीनियों के बीच चलने में।
बुरा क्या है, कभी यदि मेनका के साथ बादल पर
टहलते-घूमते तुम बेखबर नीचे फिसल जाओ ?
अरे, ये मेघ हैं, सड़कें नहीं कंक्रीट-पत्थर की,
गिरो भी तो नहीं तन में तनिक भी चोट लगती है।

बुरा क्या है, किसी दिन घूमते-फिरते भटक जाओ,
गली सूझे नही कोई सितारों से निकलने की ?
मजे में रात भर घूमो कभी दायें, कभी बायें,
उमड़ती बाढ़ में ज्यों गाँव की डोंगी निकलती है
घरों के पास से होकर, बचाकर पेड़-पौधों को ;
कि जैसे पर्वतों की गोद में नदियाँ बहा करतीं ;
कि जैसे टापुओं के बीच से जलयान चलते हैं,
कि जैसे रेंगते हैं साँप नीचे फूल के वन में,
कि जैसे नाव 'वेनिस' में गृहों के बीच फिरती है।

सितारों की जमी पर ओस की अच्छी नमी होगी,
धुमैली गंध बादल की भरेगी ताजगी मन में।
मजे में रात भर घूमो, मगर, जब भोर होता हो,
क्षितिज के पास कंचन के सरोवर में उतर जाओ,
मिटा लो क्लांति, रँग लो प्राण को सौरभ भरे जल से,
उषा को बाँधकर भुज में उतरते-तैरते जाओ,
क्षितिज के पास से पृथ्वी नहीं दो हाथ भर भी है।

अहा! पृथ्वी!
धुओं का जाल ऊपर रह गया उन भावनाओं-सा
उमड़ती है घटा-सी जो, नहीं पर, हाथ में आती,
तुम्हारे पाँव के नीचे हुई आवाज कुछ ठक-सी?
लगा ऐसा कि जैसे नींद में तुम जाग बैठे हो?
हुआ अनुमान कुछ ऐसा कि जैसे आँख के ऊपर
हरी ऐनक पड़ी थी जो कहीं वह गिर गई खुलकर?
अभी तो भोर की भी धूप आँखों में कड़कती है।

यही है जिंदगी जिसकी गगन में कामना फैली,
मगर, जो खुद खड़ी चट्टान से लोहे बजाती है।
छिटक चिनगारियाँ उड़ती, वही इसके सितारे हैं,
धुमैली गंध जो ऊपर, यहाँ खुशबू पसीने की।

गगन में घूमनेवालो! जिसे तुम खोजते फिरते
नहीं वह पूर्णता है शून्य का कीटाणु बनने में।
बढ़ाओ कल्पना का जाल, तब भी व्योम बाकी है,
लगाओ तर्क के सोपान, तब भी प्रश्न रहते हैं।
मृषा ऊहा, वृथा संधान, मन का स्वेद यह झूठा,
अमरता खोजते हो तुम, मगर मरते चले जाते।

इधर तुम खींचते अपनी लकीरें वायुमण्डल में,
उधर आकर निरंतर शून्य उनको एक कर जाता।
इसीसे तो समझता हूँ कि वे अच्छे रहे हमसे
नहीं जिनकी लकीरें वायुमण्डल पर, मही पर हैं।
जिन्होंने पर्वतों को काटकर मैदान कर डाला,
नदी संकेत पर जिनके सिमटकर गति बदलती है।
सुबह से शाम तक खट कर पुरुष जो लौटते घर को,
अभी भी वीरता-साहस लिये, गौरव भरे मन में,
प्रिया से भी नहीं कहते कि मेरी देह दुखती है।

बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुंदर बनाती है,
बड़ा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिंता नहीं होती।
बड़ा वह आदमी जो जिंदगी भर काम करता है,
बड़ी वह रूह जो रोये विना तन से निकलती है।

१९५२ ई०]

भावी पीढ़ी से

हम तुम में साकार नहीं तो छिपे हुए हैं।
तुम भी लेकर नाव हमारे उष्ण रुधिर में
घूम रहे इच्छाओं की दुनिया टटोलते,
ले जाने को उसे, तत्त्व जो अविनश्वर है,
जा सकता है जो कुम्हलाये बिना वहाँ तक
जहाँ पहुँच तट छोड़ तुम्हें ऊपर आना है।

ये कुछ भींगे कमल और ये गीली कलियाँ ?
ऐसी ही थी, हम सब की ईजाद नहीं है।
जो हम को दे गये, उन्होंने भी पाया था,
अपने पूर्व-पुरुष के हाथों से ऐसा ही।
जीत वही जो मनु के चरणों में लोटी थी ;
हार वही जिसके नीचे वह काँप उठा था।
रहे धूल में पड़ा कि गंगा में नहलाओ,
आदम का बेटा आदम का ही बेटा है।

नई बात क्या कहें ? नया हमने क्या सीखा ?
उलट-पुलट कर शब्द खेल जितने दिखलावें ;

किन्तु, बात है यही कि जल ठंढा होता है,
और आग पर चढ़ा उसे जितना खौलाओ,
किन्तु, आग उस पानी से भी बुझ जाती है।

जिज्ञासा का धुआँ उठा जो मनु के सिर से,
सब के माथे से वह उठता ही आया है,
घटी-बढ़ी, पर, नहीं तनिक नीलिमा गगन की,
और न बरसा समाधान कोई अम्बर से।

श्रम है केवल सार, काम करना अच्छा है,
चिन्ता है दुख-भार, सोचना पागलपन है।
पियो सोम या चाय, नाम में जो अन्तर हो,
मगर, स्वाद का हाल वही खट्टा-मीठा है।

१९५१ ई०]

नीरव प्रकाश

दूं तुम को जीभ उधार? सूर्य! क्या बोलोगे?
भाषा जिनकी है बनी, भाव वे जूठे हैं।
जो भेद अछूते हैं, उनको कहना चाहो,
तो वाणी के साधन समस्त ये झूठे हैं।

आँखें सुन सकती नहीं मूर्त्त जिन गीतों को,
शब्दों में उनको ढाल कान पढ पायेंगे?
गूंगे की लिपियों में न अर्थ जो आ पाते,
कवि की जिह्वा पर ही कैसे चढ पायेंगे?

ये शब्द मद्य-रस-जीवी हैं, जितनी पीते
संकेत-सुरा, उतना ही खेल दिखाते हैं।
पर, जहाँ वारुणी का मद नहीं ठहर पाता,
उस गहराई पर पहुँच मूक रह जाते हैं।

संकेतों से आगे वाणी की राह नहीं,
कुछ लाभ नहीं किरणों को मुखर बनाने से।
रव की झंकारों से न भेद खुल पायेगा,
जो खुला नहीं नीरव प्रकाश फैलाने से।

सबसे बड़ी आवाज

शून्य का जो उत्स, उसके पास है वह।
काल की निस्सीमता की साँस है वह।
है पची हर चीज के आकार में,
फूटती लेकिन नहीं झंकार में,
मूक है, प्रच्छन्न है सबसे बड़ी आवाज।

सिन्धु गर्जन कर रहा है;
ये नहीं मर जायँ अम्बर में बिखर कर,
अमरता के लोभ से हर एक स्वर को
भूमि की श्रुति में युगों से भर रहा है।

भूमि, लेकिन, कब तलक ठहरी रहेगी?
अमरता की प्यास में जलती हुई
कान में कब तक जुगाये नाद की लहरी रहेगी?

सिन्धु को जाना जहाँ है,
भूमि को अपना विलय पाना वहाँ है।
बोलनेवाली तरंगें मौन होंगी,
तब यहाँ आवाज उठती कौन होगी?

सबसे बड़ी आवाज

विश्व के ये नाद टकराते जहाँ पर,
अंत में विश्राम है पाते जहाँ पर;
उस सतह की मूकता के कुंज-वन में
एक छोटी-सी खगी का रूप धर कर
है छिपी बैठी हुई सबसे बड़ी आवाज।

बन्धु मेरे सिन्धु, यों क्या चीखते हो?
तुम सुयश के भिक्षु मुझको दीखते हो;।
मोह में भूले हुए प्लुत में पुकारो,
या कि उससे भी अधिक निज कंठ फाड़ो;।

यह जगत इस छोर से उस छोर तक
क्या कभी गर्जन तुम्हारा सुन सकेगा?
जिस तरह तुम धुन रहे मस्तक यहाँ पर,
उस तरह संसार क्या सिर धुन सकेगा?

मूक हो जाओ अगर बल चाहते हो।

रव नहीं रवहीन की झंकार है वह,
मूकता के साथ एकाकार है वह,
मूक है, प्रच्छन्न है सबसे बड़ी आवाज।

१९५२ ई०]

पावस-गीत

अम्बर के गृह गान रे, घन-पाहुन आये।

इन्द्रधनुष मेचक - रुचि - हारी,
पीत वर्ण दामिनि-द्युति न्यारी,
प्रिय की छवि पहचान रे, नीलम घन छाये।

वृष्टि-विकल घन का गुरु गर्जन,
बूंद - बूंद में स्वप्न - विसर्जन,
वारिद सुकवि समान रे, बरसे कल पाये।

तृण, तरु, लता, कुसुम पर सोई,
बजने लगी सजल सुधि कोई,
सुन - सुन आकुल प्राण रे, लोचन भर आये।

१९४७ ई०]

चन्द्राह्वान

जागो हे अविनाशी !
जागो किरणपुरुष ! कुमुदासन ! विधु-मंडल के वासी !
जागो हे अविनाशी !

रत्न - जडित - पथ - चारी, जागो,
उडु - वन - वीथि - विहारी, जागो,
जागो रसिक विराग-लोक के, मधुवन के सन्यासी !
जागो हे अविनाशी !

जागो शिल्पि अजर अम्बर के !
गायक महाकाल के घर के !
दिव के अमृतकंठ कवि, जागो, स्निग्ध-प्रकाश-प्रकाशी ।
जागो हे अविनाशी !

विभा-सलिल का मीन करो हे !
निज में मुझको लीन करो हे !
विधु-मंडल में आज डूब जाने का मै अभिलाषी !
जागो हे अविनाशी !

१९४६ ई०]

ये गान बहुत रोये

तुम बसे नही इनमें आकर,
ये गान बहुत रोये।

बिजली बन घन में रोज हँसा करते हो,
फूलों में बन कर गन्ध बसा करते हो,
नीलिमा नही सारा तन ढँक पाती है,
तारा - पथ में पग - ज्योति झलक जाती है।
हर तरफ चमकता यह जो रूप तुम्हारा,
रह - रह उठता जगमगा जगत जो सारा,
इनको समेट मन में लाकर
ये गान बहुत रोये।

जिस पथ पर से रथ कभी निकल जाता है,
कहते हैं, उस पर दीपक बल जाता है।
मैं देख रहा अपनी ऊँचाई पर से,
तुम किसी रोज तो गुजरे नहीं इधर से।

ये गान बहुत रोये

अँधियाले में स्वर वृथा टेरते फिरते,
कोने - कोने में तुम्हे हेरते फिरते।
पर, कही नही तुमको पाकर
ये गान बहुत रोये।

कब तक बरसेगी ज्योति वार कर मुझको ?
निकलेगा रथ किस रोज पार कर मुझको ?
किस रोज लिये प्रज्वलित बाण आओगे,
खीचते हृदय पर रेख निकल जाओगे ?
किस रोज तुम्हारी आग शीश पर लूँगा,
बाणों के आगे प्राण खोल धर दूँगा ?
यह सोच विरह में अकुला कर
ये गान बहुत रोये।

१९५३ ई०]

गायक

ढलकते गीत में मोती,
चमकती आँख में शबनम।

तुम्हारी बाँसुरी की तान में
छिप रो रहा कोई।
गुलाबी आँख अपनी
आँसुओं से धो रहा कोई।
तुम्हारे गीत में तारे
झपकते - झिलमिलाते हैं,
कमल, मानों, सरोवर में
निकलते, डूब जाते हैं।

मनाती हो चिता के पास
जैसे चाँदनी मातम।
ढलकते गीत में मोती,
चमकती आँख में शबनम।

नहा कर सात रंगों में
कहीं से वेदना आई,

गायक

उदासी या किसी ग़म की
उषा के लोक में छाई।
कसकती वेदना ऐसे कि
जैसे प्राण हिलते हों,
किरण-सी फूटती, मानों,
तिमिर में फूल खिलते हों।

अँधेरी रात में ज्यों बज
रही हो ज्योति की सरगम।
ढलकते गीत में मोती,
चमकती आँख में शबनम!

१९४७ ई०]

नर्तकी

तुम्हें भी शूल चुभते हैं?

बरसते है तुम्हारे अंग पर भी वाण आँखों के
असूया में बुझे, विद्वेष के तीखे जहरवाले?
उन्हीं के सामने हो नाचती जिनकी निगाहों में
नहीं तुम और कुछ, केवल सुयश की भिक्षुणी भर हो?

सुधा से तृप्त कर सब को स्वयं जब लौटती घर को,
तुम्हारे भी हृदय के कूप से आवाज उठती है?
"लगा लाई नया फिर एक धब्बा आज भी तन में,
मरण के हाथ फिर थोड़ी अमरता बेच आई है।"

हृदय का देवता कहता, न बाहर धूप में घमो।
नगर के लोग कहते हैं, प्रशंसा की भिखारिन है।
मगर, तब भी नहीं तुम क्यों हृदय के गेह में रुकती?
अतल गहराइयों को छोड़ क्यों बाहर निकलती हो,
जहाँ ईर्ष्या, असूया, द्वेष, सब भाले लिये फिरते,
जहाँ पर फूल की सारी परख रंगीनियों तक है?
न कोई मूल तक जाता, न कोई गन्ध लेता है।

नर्तकी

सतह के फेन के गाहक ; कलाएँ मौज हैं इनकी।
कभी जब काम से थक कर महल से ये निकलते हैं,
हमारी ओर भी कुछ घूमते-फिरते चले आते,
नशीली कामनाओं के तिमिर में खोजते शीतल,
फुहारें चाँदनी की और झीना जाल शबनम का।

इन्हें है याद इतना ही कि जब सागर उबलता है
अतल को छोड़ कर आती भुवन में वारुणी केवल।
नहीं यह जानते हैं, कल्पनाएँ जब मथी जाती,
निकलती है जहर की आग भी, पीयूष का जल भी।

हमारी वारुणी में स्नान करने को बहुत व्याकुल,
बहुत व्याकुल हमारी उर्वशी का रूप पीने को।
नही पर, भूल कर भी खोलते पीयूष के घट को,
जहर को देखकर तो दूर से ही भाग जाते है।

कला आनन्द की स्रोतस्विनी, इस स्रोत के पीछे
बहुत-से फूल होंगे, दूब होगी, चाँदनी होगी।
बिचारे सोचते हैं, जो हमें आनन्द देती है,
भला क्यों भीगती होगी स्वय वह स्वेद के जल से?
यती-सी काटती होगी कभी क्यों रात वह जग कर
अगोचर की विभा को बाँध कर गोचर बनाने में?

अगमता से उलझने की उसे क्या बेबसी जिसकी
प्रभा कटि में, नयन में, और ग्रीवा मे निवसती है?
रिझाने की अदाओं में बड़ी क्या बात है ऐसी,
जिसे हम सिद्धि की लौ, योग की कोमल विभा समझें?
तपस्या-साधना की नाचने में क्या जरूरत है?

जलो जितना, नहीं, पर, योगियों का मान पाओगी।
तपो, लेकिन, नहीं कोई कहेगा तापसी तुम को।
जहर पीकर अमृत से विश्व का तन सींचती जाओ,
नहीं संसार, पर, इसको तुम्हारा दान मानेगा।
सभी को तृप्ति दो, पर, कौन इतनी बात सोचेगा,
कि तुम सब को खिला करके बिना आहार सोती हो?

कला की सेविके! यह साधना ही है अभागों की,
न माया ही जिन्हें मिलती, न जिनको राम मिलते हैं।
कुसुम को देख कर हम सोचते, सौरभ कहाँ इसका?
अगर सौरभ मिला तो प्रश्न यह हैरान करता है,
जहाँ से गन्ध यह उठती, कहाँ पर वह कुसुम होगा?

न तो हम गन्ध से मिल कर पवन में वास कर पाते,
न फूलों से लिपट कर भूमि पर आराम करते हैं।
न मिलता रूप वह निर्देहता की ज्योति हो जिसमें,
न मिलता स्वप्न वह जो देह धर कर पास आ जाये।
बनाना चाहते जो सेतु वह बन ही नहीं पाता,
इसी संघर्ष में जीवन-समर हम हार जाते हैं।

लगा जब बाँटने धाता सुखों का भोग जीवों को,
रचे दो सोम उसने, एक नभ में, दूसरा जल में।
चतुर थे लोग जो वे तो गगन के चाँद पर दौड़े,
मगर, हम बिक गये बेमोल उसकी एक छाया पर,
कि यह छाया गगन के चाँद से बढ़कर मनोहर थी।

तभी से बिम्ब के पीछे हमारी दौड़ जारी है।
जगत के रूप सारे पाँव के पीछे रहे जाते।

नर्तकी

निकलते जा रहे उस ओर को हम तीर की लय से
जहाँ आकाश से पृथ्वी मिली मालूम होती है।

हमारा व्यय? हवा के खेत में कुछ स्वप्न बो देना।
हमारी आय? अम्बर मे हजारों फूल खिलते हैं।

बहुत है चाहते, रक्खें चरण चट्टान पर लेकिन,
शिलाएँ भी हमारी बर्फ का निर्माण बन जाती,
पदों की उष्णता का स्पर्श पाते ही पिघलती है।

न जानें आस की नौका कहाँ, किस द्वीप में छोड़ी?
खड़े हम कूल पर अब तक उसी की राह तकते हैं।

असूया देखकर हम को भला क्यो आग होती है?
हमारे पास क्या है? साधना थोड़ी, फकीरी है।
जिसे भी चाह हो इसकी, मुकुट अपना जला डाले,
उठा ले फूल वह जो स्वच्छ दर्पण में चमकता है।
गले से तोड़ कर फेंके प्रतापी हार सोने का।
निकाले राह कोई डूब कर उसको पकड़ने की
सलिल की आरसी में चंद्रमा जो झिलमिलाता है।

जहाँ तक सत्य की पूजा, वहीं तक धर्म गेही का,
कला में स्वप्न जब भरते, शुरू संन्यास होता है।

१९५३ ई०]

कवि की मृत्यु

जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया,
चाँदनी मचलने लगी कफन बन जाने को।
मलयानिल ने शव को कंधों पर उठा लिया,
बन ने भेजे चंदन-श्रीखंड जलाने को।

सूरज बोला, यह बड़ी रोशनीवाला था,
मैं भी न जिसे भर सका कभी उजियाली से ;
रँग दिया आदमी के भीतर की दुनिया को
इस गायक ने अपने गीतों की लाली से।

बोला बूढ़ा आकाश, ध्यान जब यह धरता,
मुझमें यौवन का नया वेग जग जाता था।
इसके चिन्तन में डुबकी एक लगाते ही,
तन कौन कहे, मन भी मेरा रँग जाता था।

देवों ने कहा, बड़ा सुख था इसके मन की
गहराई में डूबने और उतराने में।
माया बोली, मैं कई बार थी भूल गई
अपने को गोपन भेद इसे बतलाने में।

योगी था, बोला सत्य, भागता मैं फिरता,
यह जाल बढ़ाये हुए दौड़ता चलता था।
जब-जब लेता यह पकड़ और हंसने लगता,
धोखा देकर मैं अपना रूप बदलता था।

मर्दों को आईं याद बांकपन की बातें,
बोले, जो हो, आदमी बड़ा अलबेला था।
जिसके आगे तूफान अदब से झुकते हैं,
उसको भी इसने अहंकार से झेला था।

नारियाँ बिलखने लगी, बाँसुरी के भीतर
जादू था, कोई अदा बड़ी मतवाली थी,
गर्जन में भी थी नमी, आग से भरे हुए
गीतों में भी कुछ चीज रुलानेवाली थी।

वे बड़ी-बड़ी आँखे आँसू से भरी हुई,
पानी में जैसे कमल डूब उतराता हो।
वह मस्ती में झूमते हुए उसका आना,
मानों, अपना ही तनय झूमता आता हो।

चिन्तन में डूबा हुआ, सरल, भोला-भाला
बालक था, कोई पुरुष दिव्य अवतारी था।
तुम तो कहते हो मर्द, मगर, मन के भीतर
यह कलावन्त हमसे भी बढ़ कर नारी था।

चुपचाप जिन्दगी भर इसने जो जुल्म सहे,
उतना नारी भी कहाँ मौन हो सहती है?
आँखों के आँसू मन के भेद जता जाते,
कुछ सोच-समझ जिह्वा चाहे चुप रहती है।

पर, इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आखिर, वह भी सो गया जिन्दगी ने जिसको,
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।

बेबसी बड़ी उन बेचारों की क्या कहिए!
चुपचाप जिन्हें जीवन भर जलना होता है।
ऊपर-नीचे द्वेषों के कुन्त तने होते,
बचकर उनको बेदाग निकलना होता है।

जाओ, कवि, जाओ, मिला तुम्हें जो कुछ हमसे,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है।
चुन-चुन कर हम तोड़ते वही टहनी केवल
जिस पर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है।

विष के प्याले का मोल और क्या हो सकता?
प्रेमी तो केवल मधुर प्रीत ही देता है।
कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है।

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुँच नहीं तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफिल उजड़ गई, ऊपर कल से
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।

१९५२ ई०]

नई आवाज

कभी की जा चुकी नीचे यहाँ की वेदनाएँ,
नये स्वर के लिये तू क्या गगन को छानता है ?

(१)

बताएँ भेद क्या तारे ? उन्हें कुछ ज्ञात भी हो,
कहे क्या चाँद ? उसके पास कोई बात भी हो।
निशानी तो घटा पर है, मगर, किसके चरण की ?
यहाँ पर भी नहीं यह राज कोई जानता है।

(२)

सनातन है, अचल है, स्वर्ग चलता ही नही है;
तृषा की आग में पड़कर पिघलता ही नहीं है।
मजे मालूम ही जिसको नही बेताबियों के,
नई आवाज की दुनिया उसे क्यों मानता है ?

(३)

धुओं का देश है नादान ! यह छलना बड़ी है,
नई अनुभूतियों की खान वह नीचे पड़ी है।

मुसीबत से बिंधी जो जिन्दगी, रौशन हुई वह,
किरण को ढूँढ़ता, लेकिन, नहीं पहचानता है।

(४)

गगन में तो नहीं बाकी जरा कुछ है अनल में,
नये स्वर का भरा है कोष पर, अब तक अतल में।
कढ़ेगी तोड़कर कारा अभी धारा सुधा की,
शरासन को श्रवण तक तू नहीं क्यों तानता है?

(५)

नया स्वर खोजनेवाले! तलातल तोड़ता जा,
कदम जिस पर पड़ें तेरे, सतह वह छोड़ता जा;
नई झंकार की दुनिया खतम होती कहाँ पर?
वही कुछ जानता, सीमा नहीं जो मानता है।

(६)

वहाँ क्या है कि फव्वारे जहाँ से छूटते है?
जरा-सी नम हुई मिट्टी कि अंकुर फूटते है?
बरसता जो गगन से वह जमा होता मही में,
उतरने को अतल मे क्यों नही हठ ठानता है?

(७)

हृदय-जल में सिमट कर डूब, इसकी थाह तो ले,
रसों के ताल में नीचे उतर अवगाह तो ले।
सरोवर छोड़ कर तू बूँद पीने की खुशी में,
गगन के फूल पर शायक वृथा संधानता है।

१९५१ ई०]

संकेत

जलद-जाल मे कुन्तल तेरे उलझ रहे,
सुरधनु का केयूर, बाँह पर मणिबन्धन ;
जहाँ हमारे मस्तक पहुँच नही सकते,
फूलों-से पड़ते है तेरे दिव्य चरण।

रग-भरी कल्पना हमारी भी क्या है ?
छाया, तेरी कनक-चेतना की छाया ;
साँसों में भरता सुगन्ध तू ही लेकिन,
जग कहता, मै इसे स्वर्ग से ले आया।

मरकत-से, मणि-से, विद्रुम-से, फूलों-से
नभ में पावन चरण-चिह्न उतराते हैं,
जिधर-जिधर ले जाता है संकेत हमें,
उधर-उधर हम अपना प्रेम चढ़ाते हैं।

१९४९ ई०]

जीवन

पत्थरों में भी कहीं कुछ सुगबुगी है?
दूब यह चट्टान पर कैसे उगी है?

ध्वंस पर जैसे मरण की दृष्टि है,
सृजन में त्यों ही लगी यह सृष्टि है।

एक कण भी है सजल आशा जहाँ,
एक अंकुर सिर उठाता है वहाँ।

मृत्यु का तन आग है, अंगार है;
जिन्दगी हरियालियों की धार है।

क्षार में दो बूंद आँसू डाल कर,
और उसमें बीज कोई पाल कर,

चूम कर मृत को जिलाती जिन्दगी।
फूल मरघट में खिलाती जिन्दगी।

निर्झरी बन फूटती पाताल से,
कोंपलें बन नग्न, रूखी डाल से।

जीवन

खोज लेती है सुधा पाषाण में,
जिन्दगी रुकती नहीं चट्टान में।

बाल भर अवकाश होना चाहिए,
कुछ खुला आकाश होना चाहिए,

बीज की फिर शक्ति रुकती है कहाँ?
भाव की अभिव्यक्ति रुकती है कहाँ?

१९५४ ई०]

आनन्दातिरेक

आनन्द का अतिरेक यह।

हो मृत्यु की धारा अगर तो मुक्त बहने दो मुझे ;
हो जिन्दगी की छाँह तो निस्पन्द रहने दो मुझे।

कुछ और पाना व्यर्थ है,
अन्यत्र जाना व्यर्थ है।

माँगा बहुत तुम से, नहीं कुछ और माँगूँगा ;
अब इस महामधु-पूर्ण निद्रा से न जागूँगा।

नींद है वह जागरण जब फूल खिलते हों ;
चेतना के सिन्धु में निश्चेत प्राणों को ;
ऊर्मियों में फूटते-से गान मिलते हों।

मीठा बहुत उल्लास यह, मादक बहुत अविवेक यह,
निस्सीम नभ, सागर अगम आनन्द का अतिरेक यह।

१९५४ ई०]

सेतु-रचना

भूँक रहे जो उन्हें नहीं उत्तर दो,
तुम कुरूप हो, ऐसी बात नहीं है।
टूट रहे ये मुझे काट खाने को,
तुम पर तो कोई आघात नहीं है।

और तेज ये जितना करें नखों को,
अपना ही तो अंग नोंच खायेंगे?
हम-तुम बसते जहाँ तुंग चोटी पर,
वहाँ द्वेष के कीट पहुंच पायेंगे?

ओर-छोर तक कैसे छाप सकेगा
तिमिर तुम्हारी छवि काली पाँखों से?
उड़ा-उड़ा कर ओझल कहाँ करेगा
पवन अक्षरों को जग की आँखों से?

मरण नहीं सारा सर्वस्व हरेगा,
चिता नहीं सब कुछ समेट पायेगी,
जो कुछ भी जल जाय, अन्त में सबके,
एक ज्योति जीवित ही रह जायेगी।

जैसे लाखों रसिक प्यार करते हैं,
वैसे ही, आगे भी प्यार करेंगे ;
फूलों से, पत्तों से, ओस-कणों से
लोग तुम्हारा भी सत्कार करेंगे।

तुम्हें देख कर उन्हें याद आयेगा,
पहले भी नगराज कभी डोला है ;
बाल-सूर्य को नमस्कार करने को
पहले भी कोई मृगेन्द्र बोला है।

पहले भी कोई जन घूम चुका है
गीतों के अम्बर में तूफानों पर ;
आँधी को पायलें पिन्हा पहले भी
कोई कवि है नचा चुका गानों पर।

कोलाहल से भरे विश्व में कोई
कला-योग पहले भी साध चुका है।
निराकार स्वप्नों की आभाओं को
साँसों के धागों से बाँध चुका है।

रचो सेतु, दूरी अब भी बाकी है,
जन्म नहीं अपना जी बहलाने को ;
शिल्प-श्रमिक हम आते हैं जीवन को
इस युग से उस युग में पहुँचाने को।

रचो सेतु, जो भाव मूकता में हों,
दिन ढलने लग गया, उन्हें द्रुत स्वर दो;
निर्विकल्प हो रहो सेतु-रचना में,
भूंक रहे जो उन्हें नहीं उत्तर दो।

१९५३ ई०]

अमरता

कभी वह भी समय होगा ?
सुयश की एषणा जो शेष है, निःशेषता लेगी,
श्रवण के चर्म की यह गुदगुदी भी छूट जायेगी ?
न होगी बेकली मनमें मरण के बाद जीने की ?
अमरता से लगी आशा तुनुक यह टूट जायेगी ?

कहाँ था सात युग पहले ? न कोई थाह मिलती है।
न इस असहायता से क्लेश या आनन्द होता है ;
अनागत के तिमिर को चीर कर तब देखना यह क्या,
कि हूँ निश्चिह्न या कोई वहाँ भी नाम ढोता है ?

पड़ा हूँ एक छोटे-सा तुम्हारे शून्य के पट पर,
बड़ी यह कामना, मुझको अमरता में डुबो देना।
मरण, सचमुच, मरण हो, चिह्न कोई भी न रह जाये,
चलूँ जब छोड़ कर इसको, गगन का दाग धो लेना।

शुभाशुभ जो किया अब तक,सभीको भस्म कर दोगे ?
सनातन शून्यता के सिन्धु में संपूर्ण लय होगा ?
तुम्हारी आग में कर स्नान सब कुछ भूल जाऊँगा ?
अमर की मृत्यु के स्वामी ! कभी वह भी समय होगा?

अशब्द

घन पर धर कर चरण, किरण का लिये क्षीण आधार,
सोच रहा, कैसे खोलूँ, अज्ञात विश्व का द्वार।
अविश्लिष्ट जगके मुख पर से कैसे शिला हटाऊँ?
धरूँ कौन-सा रूप? स्वप्न के भीतर कैसे जाऊँ?
खोल-खोल, निज नयन काल! पलकों में करूँ प्रवेश,
देखूँ मिहिर-विवर से चल अज्ञात हृदय का देश।

अविश्लिष्ट वह देश जहाँ पर मनोमग्न जीवन है,
चेतनता निष्कंप जहाँ नीरवता में कंपन है।
सिमटा सार निखिल प्राणों का जिसके निभृत निलय में,
अक्षय अमृत-घटी-सा जो विजड़ित है काल-हृदय में।
स्वप्न देह धर जहाँ विचरते मिट्टी पर पग देकर,
और सत्य झिलमिल रहता आभास स्वप्न का लेकर।
जहाँ मरण के रन्ध्र-रन्ध्र में कूजित अमर प्रकाश,
आलिगन में बँधे पड़े हैं मृत्ति और आकाश।

खोलो, खोलो अजिर-द्वार, अज्ञात जगत के स्वामी!
अविश्लिष्ट, अव्यक्त भेद का व्यक्त मनुज मैं कामी।

अशब्द

छूने दो आवरणहीन कर से अरूप सपने को,
पहुँचाने दो परे स्पर्श की सीमा से अपने को।
तनिक अतल तक डूब देखने दो, खाई यह क्या है,
समाधान उठता रहता जिसमें से नित्य नया है।
गहन मूकता में, शब्दों की मुखर परिधि के पार,
प्राणों को सुनने दो प्राणों का अशब्द गुंजार।

१९४९ ई०]

नासदीय

दिवस नहीं था, रात नहीं थी, जीवन-मरण नहीं था ;
तत्त्वों का अस्तित्व अनस्तित्वों में छिपा कहीं था।
पर, क्या इसी भाँति अनुपस्थित था यह महागगन भी ?
सृष्टि नहीं थी और नहीं था उसका अवलम्बन भी ?

तब जो था वह कहाँ पड़ा था ? उसका कहाँ शयन था ?
जिससे निकला विश्व, तत्त्व वह जड़ था या चेतन था ?
या कुछ भी था नही ? बना जो कुछ वह स्वयं बना है ?
देख रहे हम जिसे, सृष्टि वह आकस्मिक घटना है ?

सब हैं नियमहीन ? सब के आकस्मिक जन्म-मरण हैं ?
यों ही बिखर पड़े ? हम सब आकस्मिकता के कण हैं ?
छलें किसे क्या कह कर ? प्रश्नों पर अधिकार हमारा ;
बाकी तो सब भाँति तिमिरपूरित संसार हमारा।

खुलता नहीं कपाट, बुद्धि की सेना अकुलाती है ;
क्षितिज-कूल से बार-बार टकरा कर फिर आती है।
है कोई जो कहे, भूमि कब कढ़ी सिन्धु के जल से ?
और सिन्धु फिर कब निकला वसुधा के अन्तस्तल से ?

पहली किरण तिमिर की छाती में किस दिन लहराई ?
पहले-पहल उषा किसकी आँखों को पड़ी दिखाई ?
सुना किसी ने प्रथम जागरण - स्वर सद्य:स्फुट भव का ?
रवि के नमस्कार में अर्पित गर्जन कंठीरव का ?

ठहरो अगम प्रश्न के स्रोतो ! मन में कुछ गुनने दो।
अपना समाधान अपनी ही धारा में सुनने दो।

१९५३ ई०।

इच्छाहरण

धरती ने भेजा था सूरज-चाँद स्वर्ग से लाने,
भला दीप लेकर लौटूँ किसको क्या मुख दिखलाने ?
भर न सका अंजलि, तू पूरी कर न सका यह आशा,
उलटे, छीन रहा है मुझ से मेरी चिर-अभिलाषा।
रहने दे निज कृपा, हुआ यदि तू ऐसा कंगाल,
मनसूबे मत छीन, कलेजे से मत कसक निकाल।

माना, है अधिकार तुझे दानी ! सब कुछ देने का,
मगर, निराला खेल कौन इच्छाएँ हर लेने का ?
अचल साध्य-साधक हम दोनों, अचल कामना-कामी,
इतनी सीधी बात तुझे ही ज्ञात न अन्तर्यामी ?
माँग रहा चन्द्रमा स्वर्ग का, माँग रहा दिनमान,
नहीं माँगने में आया इच्छाओं का अवसान।

१९५० ई०]

तुम क्यों लिखते हो ?

तुम क्यों लिखते हो ? क्या अपने अंतरतम को
औरों के अंतरतम के साथ मिलाने को ?
अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को ?

यदि छिपा चाहते हो दुनिया की आँखों से,
तब तो मेरे भाई ! तुमने यह बुरा किया।
है किसे फिक्र ही यहाँ, कौन क्या लाया है ?
तुमने ही क्यों अपने को अद्‌भुत मान लिया ?

कहनेवाले जानें, क्या-क्या कहते आये,
सुननेवालों ने मगर, कहो, क्या पाया है ?
मथ रहीं मनुज को जो अनन्त जिज्ञासाएँ,
उत्तर क्या उनका कभी जगत में आया है ?

अच्छा, बोलो, आदमी एक मैं भी ठहरा,
अम्बर से मेरे लिए चीज क्या लाये हो ?
मिट्टी पर हूँ मैं खड़ा, जरा नीचे देखो,
ऊपर क्या है जिस पर टकटकी लगाए हो ?

तारों में है संकेत? चाँदनी में छाया?
बस, यही बात हो गई सदा दुहराने की?
सनसनी, फेन, बुदबुद, सब कुछ सोपान बना,
अच्छी निकली यह राह सत्य तक जाने की।

दावा करते हैं शब्द जिसे छू लेने का,
क्या कभी उसे तुमने देखा या जाना है?
तुतले कंपन उठते हैं जिस गहराई से,
अपने भीतर क्या कभी उसे पहचाना है?

जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल,
असली निदान पर जड़े वज्र के ताले हैं;
उत्तर, शायद, हो छिपा मूकता के भीतर,
हम तो प्रश्नों का रूप सजानेवाले हैं।

तब क्यों रचते हो वृथा स्वांग, मानों, सारा
आकाश और पाताल तुम्हारे कर में हो?
मानों, मनुष्य नीचे हो तुमसे बहुत दूर
मानों, कोई देवता तुम्हारे स्वर में हो।

मिहिका रचते हो? रचो; किन्तु, क्या फल इसका?
खुलने की जोखिम से वह तुम्हें बचाती है?
लेकिन, मनुष्य की द्वाभा और सघन होती,
धरती की किस्मत और भरमती जाती है।

धो डालो फूलों का पराग गालों पर से,
आनन पर से यह आनन अपर हटाओ तो;
कितने पानी में हो, इसको जग भी देखे,
तुम पल भर को केवल मनुष्य बन आओ तो।

तुम क्यों लिखते हो ?

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को;
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जान-बूझ गदला करते अपने जल को।

१९५० ई०]

नग्नता

एक नग्नता वह थी जब भू के पहले नर - नारी
सहज नग्न थे, किन्तु, नग्न होने का ज्ञान नहीं था ;
दोनों के सब अंग खुले थे, सब समान सुन्दर थे,
इस अवयव पर अधिक और उस पर कम ध्यान नहीं था।

नयन देर तक नहीं किसी द्रुम के समीप रुकते थे
विचरण करते हुए देह की उघरी फुलवारी में ,
नारी को नर में रहस्य तब तक न भास पाया था,
नहीं जगा था नर का, त्यों ही, कौतूहल नारी में।

तब कहते हैं, दृष्टि पुरुष की भूल भरे उपवन को,
किसी - किसी क्यारी में रमने लगी चेतना खोकर ;
जहाँ - जहाँ वह गड़ी, लगी लगने गुदगुदी त्वचा में,
आखिर, जाग पड़ी नारी लज्जा से आकुल होकर।

लज्जा प्रथम शील नारी का, शीलमयी सकुचाई,
पत्तों से आवृत कर तन को, करतल से लोचन को ;
दृग मूँदे-मूँदे ही संभ्रममयी सहम कर बोली,
प्रियतम ! तुम भी किसी भाँति आवृत कर लो निज तन को।

नग्नता

तब से ही, सौन्दर्य आवरण में छिपता आया है,
तब से ही, लज्जा का हम आदर करते आये हैं ;
खो न जाय वह ज्योति कहीं, जो वसनों में बसती है,
इस विचार से खुली नग्नता से डरते आये हैं।

एक नग्नता यह भी है जब तन तो नग्न नहीं है,
लेकिन, मन है विकल आवरण से बाहर आने को ,
लज्जा वसनों में अनेक वातायन खोज रही है,
देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखलाने को।

वल्कल भी थे अलम् , किन्तु, अब नहीं पूर्ण अंबर भी,
लज्जा का शुभ कवच, न जाने, मन है या कि वसन है।
हृदय नग्न तो सात पटों के भी आवरण वृथा हैं,
वसन व्यर्थ यदि भलीभाँति आवृत भीतर का मन है।

१९५३ ई०।

गृह-रचना

लोमश ऋषि ने नहीं बनाया गेह।
प्रलय-पयोधि-बीचियों पर यद्यपि वे भी तिरते हैं
और विचरते हैं नवीन गीली-गीली वसुधा पर;
वसुधा, जो हर बार काल का शरबत बन जाती है
महाप्रलयके प्लावन में शक्कर-समान घुलमिल कर।
और निकल आती है फिर हर बार काल के मुख से
नई चारुता लिये, शीर्णता का कालुष्य बहा कर,
पावक में गल कर सुवर्ण ज्यों नया रूप पाता हो,
या जैसे कर स्नान अमृत की किसी दिव्य धारा में
हो जाये कामिनी पुनः पावन बालिका कुमारी।
कहते जिसको महानाश हम, उस संहारक का भी
आधा अंग अमृत-पूरित है, आधा अंग गरल है।

लोमश ऋषि ने नहीं बनाया गेह।
सोचा, विस्तृत महाकाश से भाग खड़ा होना क्या?
छिपना क्या घट-भेक-सदृश दीवारों के घेरे में?

गृह-रचना

मन पर देह, देह पर मोटी ईंटों की दीवारें।
लेकिन, हम इस तरह कैद में कब तक रह सकते है ?
एक रोज टूटती देह, दीवारें ढह पडती है,
घट का बन्दी व्योम महा अम्बर में खो जाता है।
ऐसा ही था जबकि शून्य पर घेरा नही पडा था,
ऐसा ही होगा जब देही पर दीवार न होगी।

दीवारें ऊँची कर ऊपर छत का जोड़ मिलाना
महाकाश से अपने को विच्छिन्न बना लेना है।
नही देखते प्रलय छतों के नीचे बसनेवाले,
उसे देखता, किसी ओर जिसके दीवार नही हो।

साँसे रुकतीं नही तुम्हारी क्या इन दीवारों से ?
प्राणों पर लगती न भार-सी क्या लक्ष्मण-रेखाएं ?
और घरों मे क्या केवल जीवित जन ही बसते है ?

मादकता के प्रेत, कामना की काली छायाएँ,
मरी हुई कल्पना, वाष्प निर्धूम, बुझे चिन्तन का,
सब रहते है टँगे लिपट कर मकड़ी के जालों से
याकि लटक रोगिणी वायु की उलझी हुई लटों से।

जीवित करो घ्राण किरणों से पोषित ताम्र पवन में,
फिर तो तुम इस कक्ष-बीच क्षण भर न ठहर पाओगे।

छाया के नीचे पलती जो, धूप न सह सकती है,
वायु न मिलती जिसे, रग उसका पीला होता है।
खूब किया लोमश ने कोई गेह न कभी बनाया,
छाती फुला पिया जी भर झंझा से साँस लगाकर
वह संजीवन जो कि सिर्फ झंझाओं में आता है।

और रोम के कूप-कूप को भरा अमृत-धारा से,
वह धारा जो दोपहरी की किरणों में झरती है।

मरी हुई चाँदनी ओढ़कर घर में सोनेवालो!
चूम रहे तुम जिन्हें, चूमने की वे चीज नही हैं।
न तो प्राण का कंपन इनमें और न ताप लहू का,
ये तो केवल प्राणहीन तन हैं मुरदे सपनों के।

गृह रचने का शाप, देह तो घेरे में पड़ती है,
लेकिन, मन चूने की उजियाली मे खो जाता है।
और एक उजियाली ही तब सब कुछ बन जाती है,
फिर मनुष्य को और न कोई नया रंग भाता है।

मिल सकती ताजगी अगर वातायन बड़े-बड़े हों,
मगर, खिड़कियाँ सन्धिपत्र के ही आखिर पन्ने है।
ये पन्ने खुलते जब शर्तों में मिठास होती है,
हो जाते वे बन्द जभी तूफान बड़ा आता है।

१९५० ई०]

काँपती है वज्र की दीवार ।
नींव में से आ रहा है क्षीण हाहाकार ।

जनतन्त्र का जन्म

(२६ जनवरी, १९५० ई०)

सदियों की ठंढी-बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है,
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

जनता ? हाँ, मिट्टी की अबोध मूरतें वही,
जाड़े-पाले की कसक सदा सहनेवाली,
जब अंग-अंग में लगे साँप हों चूस रहे,
तब भी न कभी मुँह खोल दर्द कहनेवाली।

जनता ? हाँ, लंबी-बड़ी जीभ की वही कसम,
"जनता, सचमुच ही, बड़ी वेदना सहती है।"
"सो ठीक, मगर, आखिर, इसपर जनमत क्या है ?"
"है प्रश्न गूढ़ ; जनता इसपर क्या कहती है ?"

मानों, जनता हो फूल जिसे एहसास नहीं,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों में;
अथवा कोई दुधमुँही जिसे बहलाने के
जन्तर-मन्तर सीमित हों चार खिलौनों में।

लेकिन, होता भूडोल, बवंडर उठते हैं,
जनता जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

हुंकारों से महलों की नींव उखड़ जाती,
साँसों के बल से ताज हवा में उड़ता है;
जनता की रोके राह, समय में ताव कहाँ?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।

अब्दों, शताब्दियों, सहस्राब्द का अन्धकार
बीता; गवाक्ष अम्बर के दहके जाते हैं;
यह और नहीं कोई, जनता के स्वप्न अजय
चीरते तिमिर का वक्ष उमड़ते आते हैं।

सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तैयार करो।
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

आरती लिये तू किसे ढूँढ़ता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

फावड़े और हल राजदंड बनने को हैं,
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

स्वर्ग के दीपक

कहता हूँ, मौसिम फिरा, सितारो ! होश करो,
कतरा कर टेढ़ी चाल भला अब क्या चलना ?
माना, दीपक हो बड़े दिव्य, ऊँचे कुल के,
लेकिन, मस्ती में अकड़-अकड़ कर क्या जलना ?

सब हैं परेड में खड़े, जरा तुम भी तनकर,
सिलसिला बाँध हो जाओ खड़े कतारों में ,
कैसे लगता है भला तुम्हें गुम्फित रहना
इस तरह, तिमिर के टेढ़े-मेढ़े तारों में ?

आगाही सुनते नहीं, सितारे हँसते है,
कहते हैं, कवि की कथा निराली होती है ;
देखती कला विधि के विधान में भी त्रुटियाँ,
कल्पना, सत्य ही, खाम-खयाली होती है ।

मिट्टीवाले बँधकर कतार में चला करें,
हमको क्या ? हम तो अमरलोक के वासी हैं ;
अम्बर पर कब मरनेवालों की रीति चली ?
सुरपति होकर भी इन्द्र प्रसिद्ध विलासी हैं ।

अच्छा, तब प्यारे ! और चार दिन मौज करो,
भूडोल नही नीचे मिट्टी पर दम लेगा ;
लीलेगा सारा व्योम और पूर्णाहुति में
वह नही स्वर्ग से कभी ग्रास कुछ कम लेगा।

मै देख रहा हूं साफ, कौधती है बिजली
अँधियाली में भावी की घोर घटाओं पर,
औ' मृत्ति वज्र बनकर अमोघ-सी टूट रही
नीचे से उड ऊपर की बडी अटाओं पर।

मत हंसो कि मन मे छिपी हमारी आँखों पर
जादू-टोने का धुआँ न छाया करता है ;
देखता नियन्ता जो कुछ भी जग से छिपकर,
सबसे पहले वह हमें दिखाया करता है।

मै देख रहा हूं, शैल उलटकर गिरते हैं,
सागर का जल ऊपर को भागा जाता है ;
है नाच रहा धिरनी बन कर अम्बर सारा,
नक्षत्रपुज पत्तों-सा चक्कर खाता है।

क्या तुम सँभाल लोगे इस व्योम-विवर्तन को ?
जादू-टोने से हवा न बाँधी जायेगी ;
लाकर कतार के भीतर तुम्हें खड़ा करने
रूई के पुतलो ! निश्चय, आँधी आयेगी।

१९५१ ई०]

संस्कार

कल कहा एक साथी ने, तुम बर्बाद हुए;
ऐसे भी अपना भरम गंवाया जाता है?
जिस दर्पण में गोपन-मन की छाया पड़ती,
वह भी सब के सामने दिखाया जाता है?

क्यों दुनिया तुमको पढ़े फक़त उस शीशे में,
जिसका परदा सबके सम्मुख तुम खोल रहे?
'इसके पीछे भी एक और दर्पण होगा;'
कानाफूसी यह सुनो, लोग क्या बोल रहे?

तुम नही जानते बन्धु! चाहते हैं ये क्या;
इनके अपने विश्वास युगों से आते हैं;
है पास कसौटी, एक सड़ी सदियोंवाली,
क्या करें? उसीके ऊपर हमें चढ़ाते हैं।

सदियों का वह विश्वास, कभी मत क्षमा करो,
जो हृदय-कुंज में बैठ तुम्हीं को छलता है;
वह एक कसौटी, लीक पुरानी है जिस पर,
मारो उसको जो डंक मारते चलता है।

संस्कार

जब डंकों के बदले न डंक हम दे सकते,
इनके अपने विश्वास मूक हो जाते हैं ;
काटता, असल में, प्रेत इन्हें अपने मनका,
मेरी निर्विषता से नाहक घबराते हैं।

१९५० ई०]

काँटों का गीत

गीत नही, काँटे ले आओ।

चुप क्यों हो?
क्या सोच रहे हो, बापू इससे बिगड़ उठेंगे?
यह भी कोई तीर - तुपक है?
अमरीका का एटम बम है?
फ़क़त नोंक भर ही चुभती है,
बाकी तो यह बहुत नरम है।

जब-जब फिरते गीत कान पर,
सुस्ती तन में भर जाती है;
इस मनुष्य की देह जानवर-सी
कुछ और पसर जाती है।

मानों, गीत नही, ये कौए
बैठ कान को सुहलाते हैं;
जादू इनका यही, भैंस को
ये समाधि में ले जाते हैं।

काँटों का गीत

यह मनुष्य वह नहीं
गीत से जिसका हृदय हिलाते थे तुम;
दीपक की लौ छुला
मोम-सा बार-बार पिघलाते थे तुम।

तब था मनुज भाव का भूखा,
भाव दीप-सा बल जाता था;
मिट्टी ही थी नरम, मेघ का
जादू उस पर चल जाता था।

वह मनुष्य मर गया;
शेष जो है, लक्ष्मी का नया जार है।
गीत उसे क्या,
जो कुबेर-पद पाने का उम्मीदवार है?

चौंकेगा यह गान श्रवण कर?
उच्च शिखर पर की पुकार
सुन कर व्याकुल हो पछतायेगा?
सोने का तज मोह साँप यह
गगरी छोड़ चला जायेगा?

नहीं, गीत के फूलों की
खुशबू का असर नहीं वह होगा।
अगर गीत को छोड़
तुम्हारे पास नहीं कोई इलाज हो,
तो लाओ वे गीत
कि जिनकी कड़ियाँ काँटेदार बनी हों;
झरबेरों के गीत कि जिनकी
हरियाली तीखी होती है।

नील कुसुम

"मगर-पुच्छ, सकुची, आड़ी का
जहर नहीं, आघात नहीं हो।"
मान लिया। बस, इसीलिए, तो
कहता हूँ, वे गीत बनाओ ;
जिनके पत्तों की कोरों पर
काँटों की बूंदें बिखरी हों।

नहीं सूझता सत्य याकि
जब गीत सत्य से घबराते हैं ;
बेचारे क्या करें ? विवश
फूलों की ओर चले जाते हैं।

और जगत् की बात न पूछो,
फूल सभी को हर्षित करता ;
रंग और खुशबू के मीठे
पुतलों से कोई कब डरता ?

मगर, सत्य जब शीश उठाता,
पहले काँटे ही आते हैं ;
फूलों के ये बड़े-बड़े प्रेमी
चुपचाप खिसक जाते हैं।

जो सोचो, बस, वही कहो,
जब सब से बड़ी बात कहनी हो।
सिर्फ सत्य मुँह से निकाल दो,
जब भी कड़ी बात कहनी हो।

काँटों का गीत

कहो कि जैसे उड़ीं कलँगियाँ,
जैसे उड़े ज़री के जामे ;
बेपनाह जिस तरह रहे उड़
राजाओं के मुकुट हवा में।

उसी तरह ये नोट तुम्हारे
पापी ! उड़ जानेवाले हैं;
तप भी मारा गया, माल भी
और लोग पानेवाले हैं।

कहो, मार्क्स से डरे हुओं का
गाँधी चौकीदार नहीं है;
सर्वोदय का दूत किसी
संचय का पहरेदार नहीं है।

आशय में जिसके असत्य,
हिंसा से जिसकी कुत्सित काया;
सत्य न देगा धूप,
अहिंसा उसे न दे पायेगी छाया।

है कुछ ऐसी चीज कि जिसको
लिये अहिंसा भी जलती है;
जिसकी दारुण, प्रखर ज्योति
दिन-रात हिंसकों को खलती है।

दूध - फूल - चाँदनी मात्र कह
कौन व्यंग्य करता है, बोलो ?
तप में बसती आग जहाँ,
मन्दिर का वह दरवाजा खोलो।

हठी ! तुम्हारे पापों से
फिर एक प्रलय छानेवाला है।
गाँधी ने भूचाल किया,
तूफान वही लानेवाला है।

१९५२ ई०]

नींव का हाहाकार

काँपती है वज्र की दीवार।
नीव में से आ रहा है क्षीण हाहाकार।

जानते हो, कौन नीचे दब गया है?
दर्द की आवाज पहले भी सुनी थी?
याकि यह दुष्काण्ड बिलकुल ही नया है?

वस्त्र जब नूतन बदलते हो किसी दिन,
खून के छींटे पड़े भी देखते हो?
रात को सूनी, सुनहरी कोठरी में
मौन कुछ मुर्दे खड़े भी देखते हो?

रोटियों पर कौर लेते ही कहीं से
अश्रु की भी बूंद क्या चूती कभी है?
बाग में जब घूमते हो शाम को तब
सनसनाती चीज भी छूती कभी है?

जानते हो, यह अनोखा राज़ क्या है?
वज्र की दीवार यह क्यों काँपती है?
और गूंगी ईंट की आवाज़ क्या है?

तोड़ दो इसको, महल को पस्त औ' बर्बाद कर दो।
नींव की ईंटें हटाओ।
दब गये हैं जो, अभी तक जी रहे हैं।
जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो।

तोड़ना है पुण्य जो तोड़ो खुशी से।
जोड़ने का मोह जी का काल होगा।
अनसुनी करते रहे इस वेदना को,
एक दिन ऐसा अचानक हाल होगा :—

वज्र की दीवार यह फट जायगी।
लपलपाती आग या सात्विक प्रलय का रूप धर कर
नींव की आवाज़ बाहर आयगी।

वज्र की दीवार जब भी टूटती है,
नींव की यह वेदना विकराल बन कर छूटती है।
दौड़ता है दर्द की तलवार बन कर
पत्थरों के पेट से नरसिंह ले अवतार।
काँपती है वज्र की दीवार।

१९५३ ई०]

शबनम की जंजीर

रचना तो पूरी हुई, जान भी है इसमें ?
पूछूं जो कोई बात, मूर्त्ति बतलायेगी ?
लग जाय आग यदि किसी रोज देवालय में,
चौंकेगी या यह खड़ी-खड़ी जल जायेगी ?

ढाँचे में तो सब ठीक-ठीक उतरा, लेकिन,
बेजान बुतों के कारीगर, कुछ होश करो;
जब तक पत्थर के भीतर साँस नहीं चलती,
सौगन्ध इसीकी तुम्हें, न तुम संतोष करो।

भर सको अगर तो प्रतिमा में चेतना भरो,
यदि नहीं, निमंत्रण दो जीवन के दानी को।
विभ्राट, महाबल जहाँ थके-से दीख रहे,
आगे आने दो वहाँ क्षीणबल प्राणी को।

तैरता हवा में जो, वह क्या भारी होगा ?
सपनों के तो सारथी क्षीणबल होते हैं;
संसार पुष्प से अपने को भूषित करता,
ये गन्धभार अपनी आत्मा में ढोते हैं।

सपनों का वह साथी, यान जिसका कोमल
आँखों से ओझल हृदय-हृदय में चलता है;
जिसके छूते ही मन की पलक उघर जाती,
विश्वास भ्रान्ति को भेद दीप-सा बलता है।

सपनों का वह सारथी, रात की छाया में,
आते जिसकी श्रुति में संवाद सितारों से,
सरिताएँ जिससे अपना हाल कहा करतीं,
बातें करता जो फूलों और पहाड़ों से।

पपड़ियाँ तोड़ फूटते जिन्दगी के सोते,
रथ के चक्के की लीक जहाँ भी पड़ती है।
प्रतिमा सजीव होकर चलने-फिरने लगती,
मिट्टी की छाती में चेतना उमड़ती है।

छेनी-टाँकी क्या करें? जिन्दगी की साँसें
लोहे पर धरकर नहीं बनाई जाती हैं;
धाराएँ जो मानव को उद्वेलित करतीं,
यंत्रों के बल से नहीं बहाई जाती हैं।

विज्ञान काम कर चुका; हाथ उसका रोको;
आगे आने दो गुणी! कला कल्याणी को।
जो भार नहीं विभ्राट, महाबल उठा सके,
दो उसे उठाने किसी क्षीणबल प्राणी को।

मानव-मन को बेधते फूल के दल केवल,
आदमी नहीं कटता बरछों से, तीरों से;
लोहे की कड़ियों की साजिश बेकार हुई,
बाँधो मनुष्य को शबनम की जंजीरों से।

भूदान

कौन टोकता है शंका से ? चुप रह, चुप, अपलापी !
क्रिया-हीन चिन्तन के अनुचर, केवल ज्ञान-प्रलापी !
नहीं देखता, ज्योति जगत् में नूतन उभर रही है ?
गाँधी की चोटी से गंगा आगे उतर रही है।
अंधकार फट गया, विनोबा में धर कर आकार
घूम-घूम वेदना देश की घर-घर रही पुकार।

ओ सिकता में चंचु गाड़ कर सुख से सोनेवालो !
चिन्ताएँ सब डाल भाग्य पर निर्भय होनेवालो !
पहुँच गई है घड़ी, फैसला अब करना ही होगा,
दो में एक राह पर पगले ! पग धरना ही होगा।
गाँधी की लो शरण, बदल डालो मिलकर संसार।
या फिर रहो कल्कि के हाथों कटने को तैयार।

अपने को ही नहीं देख, टुक, ध्यान इधर भी देना,
भूमि-हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज ? वही जो चाहेगी, सो लेगी।

कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।

पहचानो, यह कौन द्वार पर अधनंगा आया है,
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है ?
समझ सको यदि मर्म, बुलाये विना दौड़ कर आओ,
जो समझो तुम अंश अपर का उसे स्वयं दे जाओ।
स्वत्व छीन कर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण।
बड़ी कृपा उसकी, भारत में माँग रही वह दान।

१९५२ ई०]

आशा की वंशी

लिख रहे गीत इस अंधकार में भी तुम
रवि से काले बरछे जब बरस रहे हैं,
सरिताएँ जम कर बर्फ हुई जाती हैं,
जब बहुत लोग पानी को तरस रहे हैं?

इन गीतों से यह तिमिर-जाल टूटेगा?
यह जमी हुई सरिता फिर धार धरेगी?
बरसेगा शीतल मेघ? लोग भींगेंगे?
यह मरी हुई हरियाली नहीं मरेगी?

तो लिखो; और मुझ में भी जो आशा है,
उसको अपने गीतों में कहीं सजा दो।
ज्योतियाँ अभी इसके भीतर बाकी हैं,
लो, अंधकार में यह बाँसुरी बजा दो।

१९५४ ई०]

कवि और समाज

ब्रह्माणी की बाँहों से छूटी बीन नही,
उड्डीन स्वप्न मैं नहीं मेनका के मन का ;
भूले से जो आ गया नहीं में वह समीर,
कोकिल मैं भटका हुआ नहीं नन्दन-वन का।

अनजान दूरवासी फूलों की गन्ध नहीं,
मैं लहर नहीं अम्बरतल की झंकारों की ;
बेसुध पराग मैं नहीं अगोचर के वन का,
मैं गूंज नहीं हर के धनु की टंकारों की।

रागिनी तुम्हारी धमनी में बजनेवाली,
मैं दाह तुम्हारे भीतर भरे अनल का हूँ,
शंपाओं की हूँ कड़क तुम्हारे ही नभ की
गर्जन मैं तुममें छिपे हुए बादल का हूँ।

मैं हरसिंगार का वृक्ष मूल जिसका तुममें,
ये फूल नहीं, सपनों के गुच्छ तुम्हारे हैं,
मेरी रचना यह नील चँदोवा है केवल,
जगमगा रहे, वे सभी तुम्हारे तारे हैं।

मैं एक खंड वन-वेणु सात छिद्रोंवाला,
जिसमें से तुम मनचाही तान उठाते हो ;
फूंकते कभी प्राणों की आग तरल करके,
वेदना कभी भींगी उमंग में गाते हो।

ऐसे देखो मत मुझे, अरे, मैं फूल नही,
जो अनाहूत अम्बर से उड़कर आया है।
मैं उठा कि तुमने उठने को लाचार किया,
आया इसलिए कि तुमने मुझे बुलाया है।

अपनी पीड़ा कहने का कब अवकाश मिला ?
मे सदा तुम्हारा दर्द बोलता आया हूँ।
जिनके ऊपर सौ चट्टानें थीं पड़ी हुई,
उन बेकलियों का भेद खोलता आया हूँ।

क्या भूल गये वह व्यथा, फूटने की खातिर
जब आग हृदय के घेरों में अकुलाती थी,
अन्तर्मन की बेकली अँधेरे में उठ कर,
अन्तर में ही जब तड़प-तड़प रह जाती थी ?

जब रंगों के उद्वेलित पारावार लिये
मेघों के ऊपर मेघ प्राण में घिरते थे,
जी खोल बरसने को व्याकुल हर ओर विफल
आँसू की छोटी राह खोजते फिरते थे।

वाणी-विहीन की व्यथा, हाय ! वह क्या कहिये,
जब ज्वारों पर आवेग ज्वार के आते हैं ;
खुलता न कंठ, विप्लवी क्रोध में भरे हुए
मुद्रित कपाट को पीट-पीट रह जाते हैं।

बेकली तुम्हारी मुझमें जब साकार हुई,
चट्टान द्वार की टूटी चरण-प्रहारों से।
हुंकारों से वन नहीं, भुवन गुजार उठा,
पट गई देश की भूमि अश्रु की धारों से।

मिट्टी पर तब से जहां तुम्हारा स्वेद गिरा,
मैंने उमंग में भर कर कोई गान लिखा;
औ' जहां-कहीं शोणित की पतली धार चली,
धूसर प्रतिभा ने वहाँ एक अभिमान लिखा।

प्रत्येक चरण पर अंगारे जो चमक रहे,
आगे भी उनकी पाँत चमकती जायेगी;
देवता! चढ़ा तुम पर जो रत्न-किरीट नहीं
हंसिनी कभी उसको क्यों शीश झुकायेगी?

है शेष यज्ञ जब तक अशेष हतभागों का,
शिंजिनी धनुष की तब तक नहीं नरम होगी,
शीतल होता जब तक जन-मन का ताप नहीं,
वंशी के उर की आग कहाँ से कम होगी?

जब तक ये ज्वालामुखी तुम्हारे जलते हैं,
संतप्तकंठ कंठीरव मूक नहीं होगा;
छूटते रहेंगे बाण, पन्थ में पड़ा हुआ
जब तक विशाल पर्वत दो टूक नहीं होगा।

सुनना हो जिनको, सुनें, कि मैं मायापुर में
रंगों के मोहक पाश तोड़ने आया हूँ,
जो आग खेत की पगडंडी पर दौड़ रही
सुरपुर में उसकी लपट छोड़ने आया हूँ।

कवि और समाज

कहता हूँ, ओ मखमल-भोगियो ! श्रवण खोलो,
टुक सुनो, विकल यह नाद कहाँ से आता है।
है आग लगी या कहीं लुटेरे लूट रहे ?
वह कौन दूर पर गाँवों में चिल्लाता है ?

जनता की छाती भिदे और तुम नीद करो,
अपने भर तो यह जुल्म नहीं होने दूंगा।
तुम बुरा कहो या भला, मुझे परवाह नही,
पर, दोपहरी में तुम्हे नही सोने दूंगा।

हो कहाँ अग्निधर्मा नवीन ऋषियो ? जागो,
कुछ नई आग, नूतन ज्वाला की सृष्टि करो।
शीतल प्रमाद से ऊंघ रहे हैं जो, उनकी
मखमली सेज पर चिनगारी की वृष्टि करो।

गीतों से फिर चट्टान तोड़ता हूँ साथी,
झुरमुटें काट आगे की राह बनाता हूँ।
है जहाँ-जहाँ तमतोम सिमट कर छिपा हुआ,
चुनचुन कर उन कुंजों में आग लगाता हूँ।

१९५४ ई०]

शील मुकुट नरता का सब से बड़ी भव्यता का है ;
नहीं धर्म से बढ़ कर कोई मित्र सभ्यता का है।

किसको नमन करूँ मैं ?

तुझको या तेरे नदीश, गिरि, वन को नमन करूँ मैं ?
मेरे प्यारे देश ! देह या मन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मै भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है ?
नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना नही क्या तू है ?
भेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है;
मेरे प्यारे देश ! नहीं तू पत्थर है, पानी है।
जड़ताओं में छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

तू वह, नर ने जिसे बहुत ऊँचा चढ़कर पाया था;
तू वह, जो संदेश भूमि को अम्बर से आया था।
तू वह, जिसका ध्यान आज भी मन सुरभित करता है;
थकी हुई आत्मा में उड़ने की उमंग भरता है।
गन्ध-निकेतन इस अदृश्य उपवन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

वहाँ नहीं तू जहाँ जनों से ही मनुजों को भय है;
सब को सब से त्रास सदा सब पर सब का संशय है।
जहाँ स्नेह के सहज स्रोत से हटे हुए जनगण हैं,
झंडों या नारों के नीचे बँटे हुए जनगण हैं।
कैसे इस कुत्सित, विभक्त जीवन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

तू तो है वह लोक जहाँ उन्मुक्त मनुज का मन है;
समरसता को लिये प्रवाहित शीत-स्निग्ध जीवन है।
जहाँ पहुँच मानते नहीं नर-नारी दिग्बन्धन को;
आत्म-रूप देखते प्रेम में भरकर निखिल भुवन को।
कहीं खोज इस रुचिर स्वप्न पावन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है;
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है।
निखिल विश्व को जन्मभूमि-वन्दन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

खंडित है यह मही शैल से, सरिता से, सागर से;
पर, जब भी दो हाथ निकल मिलते आ द्वीपान्तर से;
तब खाई को पाट शून्य में महा मोद मचता है;
दो द्वीपों के बीच सेतु यह भारत ही रचता है।
मंगलमय इस महासेतु-बन्धन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

किसको नमन करूँ मैं ?

दो हृदयों के तार जहाँ भी जो जन जोड़ रहे हैं,
मित्र-भाव की ओर विश्व की गति को मोड़ रहे हैं।
घोल रहे हैं जो जीवन-सरिता में प्रेम-रसायन,
खोल रहे हैं देश-देश के बीच मुँदे वातायन।
आत्मबन्धु कह कर ऐसे जन-जन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मै ?

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत, स्वर तेरा है,
धर्मदीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है।
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने जाता है,
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है।
मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मै ?

१९५३ ई०]

अर्धनारीश्वर

एक हाथ में डमरु, एक में वीणा मधुर, उदार,
एक नयन में गरल, एक में संजीवन की धार।
जटाजूट में लहर पुण्य की शीतलता-सुख-कारी,
बालचन्द्र दीपित त्रिपुण्ड पर बलिहारी! बलिहारी!

प्रत्याशा में निखिल विश्व है, ध्यान देवता! त्यागो,
बाँटो, बाँटो अमृत, हिमालय के महान् ऋषि! जागो।
फेंको कुमुद-फूल में भर-भर किरण, तेज दो, तप दो,
ताप-तप्त व्याकुल मनुष्य को शीतल चंद्रातप दो।

सूख गये सर, सरित; क्षार निस्सीम जलधि का जल है;
ज्ञानघूर्णि पर चढ़ा मनुज को मार रहा मरुथल है।
इस पावक को शमित करो, मन की यह लपट बुझाओ,
छाया दो नर को, विकल्प की इति से इसे बचाओ।

रचो मनुज का मन निरभ्रता लेकर शरद्गगन की,
भरो प्राण में दीप्ति ज्योति ले शान्त-समुज्ज्वल घन की।
पद्म-पत्र पर वारि-विन्दु-निभ नर का हृदय विमल हो,
कूजित अन्तर-मध्य निरन्तर सरिता का कलकल हो।

अर्धनारीश्वर

मही माँगती एक धार, जो सबका हृदय भिगोये,
अवगाहन कर जहाँ मनुजता दाह-द्वेष-विष खोये।
मही माँगती एक गीत, जिसमें चाँदनी भरी हो,
खिलें सुमन, सुन जिसे वल्लरी रातों-रात हरी हो।

मही माँगती, ताल-ताल भर जाये श्वेत कमल से,
मही माँगती, फूल कुमुद के बरसें विधुमंडल से।
मही माँगती, प्राण-प्राण में सजी कुसुम की क्यारी,
पाषाणों में गूँज गीत की, पुरुष-पुरुष में नारी।

लेशमात्र रस नहीं, हृदय की पपड़ी फूट रही है,
मानव का सर्वस्व निरंकुश मेधा लूट रही है।
रचो, रचो शाद्वल, मनुष्य निज में हरीतिमा पाये,
उपजाओ अश्वत्थ, क्लान्त नर जहाँ तनिक सुस्ताये।

भरो भस्म में क्लिन्न अरुणता कुंकुम के वर्षण से,
संजीवन दो ओ त्रिनेत्र! करुणाकर! वाम नयन से।
प्रत्याशा में निखिल विश्व है, ध्यान देवता! त्यागो,
बाँटो, बाँटो अमृत, हिमालय के महान् ऋषि! जागो।

१९५२ ई०]

राष्ट्र-देवता का विसर्जन

प्रकटे तुम पद-मर्दित नरता की पुकार पर,
पीकर मादक सुरा घृणा की पलते आये,
उन्मादों पर चढ़े, देश में जीवन डाला,
अंगारों पर धरकर चरण मचलते आये।

सुन पैरों की चाप जगा मानव-दल सारा,
भरतभूमि का चित्र तुम्हारा ध्यान बन गया।
भूल गये हम अगम-अगोचर के चिन्तन को,
पूजा का अधिकारी हिन्दुस्तान बन गया।

चमका स्वर्ण-किरीट हिमालय की चोटी पर,
दमक उठा गंगा में उज्ज्वल हार तुम्हारा,
लिपटीं बन कटि-सूत्र विन्ध्य की हरित श्रेणियाँ,
धोने लगा पदाम्बुज पारावार तुम्हारा।

तुम बोले, बोलने लगी मानवता गूँगी,
तुम ने इंगित किया, पंगु चल पड़ा सुपथ पर,
फिर तो जीवन और प्रगति की धूम मच गई,
चमू चली, पीछे स्वदेश, आगे तुम रथ पर।

राष्ट्र-देवता का विसर्जन

पैठे लेकर वह्निवेश तुम हृदय-हृदय में,
कंठ-कंठ में तुम ज्योतिर्मय घोष बन गये,
भेज दिया इस ओर शहीदों को वेदी पर,
उधर तुम्हीं जनता का दारुण रोष बन गये।

तलवारों का जोर देह पर ही चलता है,
भावों की आँधियाँ नहीं काटे कटती हैं,
छाया हो जिस पर अजेय उन्माद तुम्हारा,
वह वरूथिनी किसे देख पीछे हटती है?

टूट गया प्राचीर तुम्हारे हुंकारों से,
दासों की बेड़ियाँ और जजीर गल गई,
ऐसा भी क्या चमत्कार! देखते-देखते,
आजादी की लता फूल कर तुरत फल गई।

क्या कह जोड़ें हाथ? चतुर्दिक् भूमण्डल पर,
तुमने आर्त्त जनों को जीवन-दान दिया है,
रोटी दी, गृह-वसन दिये, पर, सबसे बढ़कर,
मस्तक में गौरव, मन में अभिमान दिया है।

पर, क्या हो इस अहंकार का, इस गौरव का?
यह प्रदीप नर की आत्मा के पास जलेगा?
या बनकर तलवार हृदय से बाहर आकर
कहाँ कौन द्वेषी है? यह खोजता चलेगा?

जलता है सब ओर यही अभिमान मनुज का,
जग में है जो दाह, इसी गौरव का फल है,
राष्ट्रदेव! वह भी लेता है नाम तुम्हारा,
खींच रहा जो शान्ति-सुन्दरी का अंचल है।

नील कुसुम

भय से मुक्ति न मिली, मुक्ति का मोल रहा क्या?
अभय कौन, नर से नर को ही त्रास अगर है?
मही मुक्ति का स्वाद जान पायेगी कैसे,
मनुज स्वयं निज शंकाओं का दास अगर है?

शंका की यह आग नहीं क्या बुझ पायेगी?
देशों की दीवार तोड़ तुम जी न सकोगे?
फैल रहा है जहर तुम्हारा जो धरती पर,
राष्ट्रदेवता! उसे पुनः तुम पी न सकोगे?

तो फिर होगा ध्वंस तुम्हारे मन्दिर का भी,
भस्मासुर दो-एक नहीं, अब दल के दल हैं,
अवढर दानी! बचो, विश्व को भी बचने दो,
अब तो सबकी शरण विष्णु के पद केवल हैं।

विष्णु प्रेम का स्रोत, विष्णु करुणा की छाया,
जब भी यह संसार प्रलय से दब जाता है,
उठती ऊपर अमृतवाहिनी शक्ति पुरुष की,
नाभिकुण्ड से कमल-पुष्प बाहर आता है।

खंड-प्रलय हो चुका, राष्ट्रदेवता! सिधारो,
क्षीरोदधि को अब प्रदाह जग का धोने दो,
महानाग फण तोड़ अमृत के पास झुकेगा,
विषधर पर आसीन विष्णु-नर को होने दो।

२६ जनवरी, १९५३ ई०]

लोहे के पेड़ हरे होंगे

लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम का गाता चल,
नम होगी यह मिट्टी जरूर, आँसू के कण बरसाता चल।

सिसकियों और चीत्कारों से, जितना भी हो आकाश भरा,
कंकालों का हो ढेर, खप्परों से चाहे हो पटी धरा।
आशा के स्वर का भार, पवन को लेकिन, लेना ही होगा,
जीवित सपनों के लिए मार्ग मुर्दों को देना ही होगा।
रंगों के सातो घट उँड़ेल, यह अँधियाली रँग जायेगी,
ऊषा को सत्य बनाने को जावक नभ पर छितराता चल।

आदर्शों से आदर्श भिड़े, प्रज्ञा प्रज्ञा पर टूट रही,
प्रतिमा प्रतिमा से लड़ती है, धरती की किस्मत फूट रही।
आवर्त्तों का है विषम जाल, निरुपाय बुद्धि चकराती है,
विज्ञान-यान पर चढ़ी हुई सभ्यता डूबने जाती है।
जब-जब मस्तिष्क जयी होता, संसार ज्ञान से जलता है,
शीतलता की है राह हृदय, तू यह संवाद सुनाता चल।

सूरज है जग का बुझा-बुझा, चन्द्रमा मलिन-सा लगता है,
सबकी कोशिश बेकार हुई, आलोक न इनका जगता है।
इन मलिन ग्रहों के प्राणों में कोई नवीन आभा भर दे,
जादूगर! अपने दर्पण पर घिसकर इनको ताजा कर दे।
दीपक के जलते प्राण, दिवाली तभी सुहावन होती है,
रौशनी जगत को देने को अपनी अस्थियाँ जलाता चल।

क्या उन्हें देख विस्मित होना, जो हैं अलमस्त बहारों में,
फूलों को जो हैं गूँथ रहे सोने-चाँदी के तारों में?
मानवता का तू विप्र, गन्ध-छाया का आदि पुजारी है,
वेदना-पुत्र! तू तो केवल जलने भर का अधिकारी है।
ले बड़ी खुशी से उठा, सरोवर में जो हँसता चाँद मिले,
दर्पण में रचकर फूल, मगर, उसका भी मोल चुकाता चल।

काया की कितनी धूम-धाम? दो रोज चमक बुझ जाती है;
छाया पीती पीयूष, मृत्यु के ऊपर ध्वजा उड़ाती है।
लेने दे जग को उसे, ताल पर जो कलहंस मचलता है,
तेरा मराल जल के दर्पण में नीचे-नीचे चलता है।
कनकाभ धूल झर जायेगी, ये रंग कभी उड़ जायेंगे,
सौरभ है केवल सार, उसे तू सबके लिए जुगाता चल।

क्या अपनी उन से होड़, अमरता की जिनको पहचान नहीं,
छाया से परिचय नहीं, गन्ध के जग का जिनको ज्ञान नहीं?
जो चतुर चाँद का रस निचोड़ प्यालों में ढाला करते हैं,
भट्ठियाँ चढ़ाकर फूलों से जो इत्र निकाला करते हैं।
ये भी जागेंगे कभी, मगर, आधी मनुष्यतावालों पर,
जैसे मुसकाता आया है, वैसे अब भी मुसकाता चल।

लोहे के पेड़ हरे होंगे

सभ्यता-अंग पर क्षत कराल, यह अर्ध-मानवों का बल है,
हम रोकर भरते उसे, हमारी आँखों में गंगाजल है।
शूली पर चढ़ा मसीहा को वे फूले नहीं समाते हैं,
हम शव को जीवित करने को छायापुर में ले जाते हैं।
भीगी चाँदनियों में जीता, जो कठिन धूप में मरता है,
उजियाली से पीड़ित नर के मन में गोधूलि बसाता चल।

यह देख नई लीला उनकी, फिर उनने बड़ा कमाल किया,
गाँधी के लोहू से सारे भारत-सागर को लाल किया।
जी उठे राम, जी उठे कृष्ण, भारत की मिट्टी रोती है,
क्या हुआ कि प्यारे गाँधी की यह लाश न जिन्दा होती है?
तलवार मारती जिन्हें, बाँसुरी उन्हें नया जीवन देती,
जीवनी-शक्ति के अभिमानी! यह भी कमाल दिखलाता चल।

धरती के भाग हरे होंगे, भारती अमृत बरसायेगी,
दिन की कराल दाहकता पर चाँदनी सुशीतल छायेगी।
ज्वालामुखियों के कंठों में कलकंठी का आसन होगा,
जलदों से लदा गगन होगा, फूलों से भरा भुवन होगा।
बेजान, यंत्र-विरचित, गूंगी, मूर्तियाँ एक दिन बोलेंगी,
मुँह खोल-खोल सबके भीतर शिल्पी! तू जीभ बिठाता चल।

१९५१ ई०]

हिमालय का संदेश

[चिन्ताव्यंजक संगीत]

कवि

तर्क से तर्कों का रण छिड़ा, विचारों से लड़ रहे विचार,
ज्ञान के कोलाहल के बीच डूबता जाता है ससार।

और सबका उलटा परिणाम, बुद्धि का जितना बढ़ता जोर,
आदमी के भीतर की शिरा हुई जाती कुछ और कठोर।

ज्ञान के मरु में चलता हुआ आदमी खोता जाता है,
हृदय के सर का शीतल वारि और कम होता जाता है।

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान,
चेतता तब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान।

[बाँसुरी का आशाव्यंजक संगीत]

पहला स्वर

तेज करो मत धार चंचु की, विष की बात न बोलो,
बाज, पंख से बँधी कटीली तलवारों को खोलो।

बरसाओ मत आग नयन से, शीतलता छाने दो,
ऊपर उड़ते हुए हंस को भू पर अब आने दो।

बीत चली गर्मी, पावस के आने की बारी है,
शान्तिदूत के स्वागत की घर-घर में तैयारी है।

[दूरागत समवेत गान]

दाह भू का हरो, पन्थ शीतल करो,
विश्व का सर भरो वारि की धार से;
ओस का जाल दो, चाँदनी डाल दो,
आदमी का हृदय सीच दो प्यार से।
शान्ति के हंस को, धर्म-अवतंस को,
अंक में लो, इसे प्रेम दो, मान दो,
हो जहाँ भी जहर, क्षीर की दो लहर,
बाण की नोंक पर फूल को तान दो।

दूसरा स्वर

[विद्रूप हँसी के साथ]

शान्ति!!
कहीं दूध के बिना तरसती मानव की सतान,
कहीं क्षीर के मटके खाली करते जाते श्वान।
कहीं वसन रेशम के सस्ते, महँगी कहीं लँगोटी,
कोई घी से नहा रहा, मिलती न किसी को रोटी।
इस समाज की एक दवा है आग और उत्क्रान्ति।
शान्ति!!

तीसरा स्वर

हिंसा नहीं, हिंसा नहीं।
नर में छिपी जो आग है, उसको न उत्तेजित करो,
जितना बने, संसार में माधुर्य, शीतलता भरो।

है क्या उचित नर को चलाना लाठियों के जोर से ?
सकता कभी हो व्यक्ति का मन तृप्त नीति कठोर से ?

बदला जगत् का ध्येय, साधन भी बदलना चाहिए,
तजकर घृणा, नर को प्रणय-पथ पर निकलना चाहिए।

बदलो मनुज को यों कि वह अपनी कमी पहचान ले,
तुम चाहते जो कुछ, मनुज उसको हृदय से मान ले।

जंजीर कसते हो जहाँ, वह आदमी की देह है,
बसता जहाँ मन, वह बहुत भीतर हृदय का गेह है।

मन तक पहुँचने को नहीं यह लौहमय रथ चाहिए,
इसके लिए तो गंध-स्यन्दन, फूल का पथ चाहिए।

करके दलन नर में जगाओ बन्धु, प्रतिहिंसा नहीं।
हिंसा नहीं, हिंसा नहीं।

चौथा स्वर

वृथा है यह पावन उपदेश।
हिंसा नर की मलिन वृत्ति है, किसको यह अविदित है ?
नर के विमल शील की महिमा किसपर नहीं विदित है ?

किन्तु, शिला को भेद नहीं पाती जब प्रेम-पुकार,
खुलता नहीं द्वार अन्तर का, विनय मानती हार।

तब मनुष्य की भुजा पराजय वाणी की हरती है;
तोड़ लौह-अर्गला द्वार का उन्मोचन करती है।

हिंसा है तब तक जब तक नर में पशुत्व है शेष।
व्यर्थ है यह पावन उपदेश।

कई स्वर

[समवेत गान]

भूख लगी है, रोटी दो।
मन में नहीं प्रदीप हमारे, तन में दाहक आग,
हम न जानते हिंसा-प्रतिहिंसा का यह खटराग।

जिनका उदर पूर्ण हो वे सोचें चाहे जो बात,
हम भूखों को सिर्फ चाहिए एक वसन, दो भात।
भूख लगी है, रोटी दो।

पाँचवाँ स्वर

[सोचने की मुद्रा में]

"भूख लगी है, रोटी दो।"
कतनी कड़ी, मगर, कितनी सच्ची है यह आवाज!
रोक सकेगा इसे कहाँ तक कोई शाही ताज!
"भूख लगी है, रोटी दो।"
सच है, अगर लोग भूखे हैं, भूख मिटानी ही होगी,
चाहे मिले जहाँ लेकिन, रोटी तो लानी ही होगी।
"भूख लगी है, रोटी दो।"
सच तो है, रोटियाँ नहीं तो क्या ये कविता खायेंगे?
थाली में धरकर विराट कवियों के गीत चबायेंगे?

छठाँ स्वर

इन घेरों को दूर करो।
मन के चारों ओर लकीरें, नहीं सोचने भी दोगे?
रोटी देकर क्या चिन्तन का भी अधिकार छीन लोगे?

अजब मुसीबत ! पहले तो रोटी को जन बिललाता है,
और रोटियाँ मिलीं अगर तो मन कैदी हो जाता है।

मन के ऊपर पड़े शिलामय प्राचीरों को चूर करो।
इन घेरों को दूर करो।

सातवाँ स्वर

चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।

नहीं खींचते हम रेखाएं, केवल राह बताते हैं,
बहके हुए विचारों को हम ठीक विन्दु पर लाते है।

चिन्ता सच्ची वही जो कि जनजीवन में बल भरती है,
नर की बिखरी हुई शक्ति को भू पर केन्द्रित करती है।

मिलती कौन वस्तु जनमन को इधर-उधर भटकाने से ?
पेट भरेगा कभी मनुज का गीत स्वप्न का गाने से ?

इस असंख्य भूखी जनता से तेरी कला बड़ी है क्या ?
जिस विलास का तू प्रेमी है, उसकी आज घड़ी है क्या ?

पाप-पुण्य की कड़ी, कल्पना नरक-स्वर्ग की टूट चुकी,
देख, मनुज के नये भाग्य की किरण गगन पर फूट चुकी।

इस मनुष्य का धर्म स्वेद है, ईश्वर अविश्रान्त श्रम है,
समझ नहीं पाता इसको तो चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।

छठाँ स्वर

समझता हूँ, लेकिन क्या करूँ ?

नीचे खिलते फूल और ऊपर जगमग तारे हैं,
मिट्टी और गगन मुझको तो दोनों ही प्यारे हैं।

मृत्ति न हो तो मूल पुष्प का किसमें करे निवास ?
खिले कहाँ पर सुमन, नही ऊपर हो यदि आकाश ?

किन्तु, गरज उठतीं विपत्तियाँ जिस दिन जनजीवन की,
कौन जानता व्यथा हाय, उस दिन चिन्तक के मन की ?

आँख फेर ले इस विपत्ति से, ऐसा कौन कठोर ?
तन से बँधे कला, पर, कैसे मन से नाता तोड़ ?

गगन भूमि में कैसे केवल किसी एक को वरूँ ?
समझता हूँ, लेकिन क्या करूँ ?

कई स्वर

[समवेत]

रोटी और अभय भी दो।
तन को दो आहार अन्न का, मन को चिन्तन का अधिकार,
तन-मन दोनों बढें अगर तो चमक उठे, सचमुच, संसार।
बाधामुक्त करो मानस को, शंकारहित हृदय भी दो।
रोटी और अभय भी दो।

[करुण वाद्य-संगीत]

कवि

विचारों की आँधी विकराल।
उठा रही मानस-समुद्र में चटुल ऊर्मि उत्ताल।
हिला रही लाकर झकोर में विश्व-विटप की डाल।
टकरा रहे सपक्ष क्रुद्ध आदर्शों से आदर्श,
चढ़ता ज्यों-ज्यों समय, और बढ़ता जाता संघर्ष।
उड़ती हैं प्रत्येक दिशा में चिनगारियाँ कराल।
विचारों की आँधी विकराल।

[भीषण वाद्य-संगीत । धमाके से युद्ध के देवता के कूदने की आवाज और उसका अट्टहास ।]

युद्ध-देवता

झन झन झन झन झन झनन झनन
झन झन झन झन झन झनन झनन।

है बड़ा जोर आदर्शों का, हलचल है खूब विचारों की,
चल रही रोज ही खोज शान्ति के नये-नये आधारों की।
पर देखें, शान्ति महीतल पर किस ओर क्षितिज से आती है,
मेरी कराल दंष्ट्राओं से पृथ्वी कैसे बच पाती है?
मेरी फुंकारों की ज्वाला, देखें, करता है कौन शमन!
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मैं संग्रामों का देव मही को मरघट करने आया हूँ,
नर के मन को विद्वेष, घृणा, तृष्णा से भरने आया हूँ।
कहता हूँ, संचय करो, लूट भी, चोरी भी अर्जन ही है,
जैसे भी पाओ विभव, आत्मसुख का समस्त सर्जन ही है।
अपने विकास के लिए किये जाओ समस्त भू का शोषण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मेरी शिक्षा का सार, एक अपनेपन का सत्कार करो,
जो धर्म, जाति, कुल हो अपना, तुम केवल उससे प्यार करो।
सबसे अच्छा विश्वास जिसे तुमने पुरखों से पाया है,
सबसे अच्छा है धर्म वही जिसको तुमने अपनाया है।
खुलकर विधर्मियों पर करते जाओ हालाहल का वर्षण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

तुम जिसे मानते आये हो, उद्देश सभी से अच्छा है,
जन्मे हो जहाँ, जगत् भर में वह देश सभी से अच्छा है।

तुम सर्वश्रेष्ठ हो जाति, सदा यह हठ पवित्र करते जाओ,
इस अहंकार के पालन में मारते और मरते जाओ।
जो नहीं मानता हो तुमको, ठानो उस अभिमानी से रण!
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मेरा संकल्प, महावसुधा को एक नहीं होने दूँगा,
मैं विश्वदेवता का भू पर अभिषेक नहीं होने दूँगा।
रेखाएँ खींच महीतल के सौ खंड युक्ति से काटे हैं,
देशों में अलग-अलग झण्डे मैंने न व्यर्थ ही बाँटे हैं।
इन झंडों के नीचे पृथ्वी भोगती रहे अंगच्छेदन।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

है कहाँ विश्व-मानव? जो है केवल स्वदेश के प्राणी है,
मानवता नहीं, मातृभू की महिमा के सब अभिमानी है।
जब तक ये झंडे फहर रहे, अभिमान नहीं यह सोता है,
देखें तो, तब तक विश्व-मनुज का जन्म कहाँ से होता है?
मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन?
झन झन झन झन झन झनन झनन।

[अट्टहास करता है। पृथ्वी के कराहने की आवाज।]

कवि

यह प्रदाह! यह रोर भयानक! यह वेदना अशेष!
तू भी होगा सखा युद्ध का मेरे प्यारे देश?

तृष्णा की पंकिल तरंग में तू भी खो जायेगा?
या तेरा शुभ कलश कमल-सा ऊपर लहरायेगा?

पड़कर इस भीषण झकोर में धीरज पाल सकेगा?
वसुधा को विष के विवर्त से वीर! निकाल सकेगा?

या तू भी चलते-चलते, आखिर, होकर लाचार ?
वही राह पकड़ेगा, जिस पर विनश रहा संसार ?

शंकाएँ हैं बहुत, मगर, तब भी यह बात सही है,
दुनिया तेरी ओर किसी आशा से ताक रही है।

चन्दन के रथ पर चढ़ कर आनेवाला यह देश
सब कहते हैं, लाया है कोई नवीन संदेश।

मूक न रह, टुक बोल, हिमालय !
लोचन के पट खोल, हिमालय !
अबकी बार जगत पायेगा
मंत्र कौन अनमोल हिमालय !

जिस युग का विज्ञान वह्नि हो, विद्या धन की दासी हो,
जिसका शिल्प मृत्यु-पूजक, सभ्यता रुधिर की प्यासी हो।

उस युग का कल्याण कहाँ है ?
दुख से उसका त्राण कहाँ है ?
मूंदे जिसने नयन धर्म से
उसका फिर उत्थान कहाँ है ?

भागी जाती ज्योति, ज्ञान करता किसकी रखवाली है ?
सब कुछ पाकर भी मनुष्य क्यों इतना खाली-खाली है ?

यह रहस्य बतलायेगा क्या ?
शंका-तिमिर हटायेगा क्या ?
उलट गया जो दीप उसे
सीधा करके दिखलायेगा क्या ?

योगेश्वर ! क्यों मची हुई इतनी अशान्ति भारी है ?
ले जाने को कहाँ जगत् को युग की तैयारी है ?

हिमालय का संदेश

[पहाड़ के फटने की आवाज]

हिमालय

(१)

लिये अन्तर व्यथा अथाह।
हम भी तो दिन-रात यही सोचा करते हैं मौन,
पृथ्वी पर अवतरित हुआ आलोक नया यह कौन?
पाकर जिसे बढ़ी जाती है और अधिक उद्‌भ्रान्ति,
अन्धकार के साथ दूर भागी जाती है शान्ति।
चढता ज्यों-ज्यों समय और बढता है हाहाकार।
बड़ी विपद में आन फँसा है, सचमुच ही संसार।

(२)

दिशाओं में किरणों की धूम, धौंकता किरणों से आकाश,
गगन के रंध्र-रध्र में बसा नये युग का प्रज्वलित प्रकाश।

जहाँ थी पहले थोड़ी छाँह, कुंज वे फूलों के भी गये,
कही पर भी द्वाभा का लेश नही छोड़ेंगे पंडित नये।

रहस्यों में करते विश्लेष चली दुनिया ऐसे मग से,
महीतल से रूठी गोधूलि, चाँदनी विदा हुई जग से।

धूप का ऐसा तना वितान, अँधेरा कठिनाई में फँसा,
भागने को न मिली जब राह, आदमी के भीतर जा बसा।

सघन जब हो उठता है तिमिर, दृष्टि कुछ देख न पाती है,
ज्योति भी होकर सीमातीत अन्धता ही उपजाती है।

एक काली होती अन्धता, ज्योति से जो पलती है दूर,
एक उजली होती जो सदा ज्ञान से ही रहती है चूर।

आज जो लगी हुई है आग, ज्ञान के घर से आई है,
जगत् की आँखों पर रोशनी, अन्धता बनकर छाई है।

(३)

कभी सोचा भी है, तुम क्या हो ?
बल के अहंकार में भूले, भरे नित्य रहते हो,
सुनता हूँ, अपने को अपना ईश्वर भी कहते हो।

करते हो बन दास यंत्र-चक्रों की नित्य गुलामी,
किन्तु, प्रकृति का कहते हो अपने को जेता-स्वामी।

नगरों को निर्मल रखने का ऐसा ढंग निकाला,
नदियों को कलुषित, समुद्र तकको दूषित कर डाला।

जीव-जन्तु को नशा, स्वच्छ कर डाला विपिन गहन को,
सब निचोड़ निस्तैल किये जा रहे मही के तन को।

लक्ष-लक्ष वर्षों के संचित खनिज लूट क्रम-क्रम से,
किये जा रहे रिक्त हृदय वसुधा का तुम निर्मम-से।

धरती का अन्तर खँगालना ही अब बड़ी प्रगति है,
हरियालियाँ जला कर ही अब करता जग उन्नति है।

यह संतुलन-विनाश प्रकृति का वृथा नही जायेगा,
आज दुखी है मनुज और कल निश्चय पछतायेगा।

करते नहीं प्रहार प्रकृति पर, गढ़ते क्लेश नया हो।
कभी सोचा भी है, तुम क्या हो ?

(४)

युगों में अद्‌भुत रूप तुम्हारा !
भू पर तुम-सा विज्ञ मूढ़ पहले न कभी आया था,
वसुधा पर अन्धा प्रकाश यह कभी नहीं छाया था।

नहीं वंशधर तुम अतीत के, नूतन योनि अपर हो,
जो न कभी पहले जन्मा था, वह बौद्धिक बर्बर हो।

ज्ञान तुम्हारा अन्धकार है, किरण तुम्हारी तम है,
धर्म तुम्हारा ध्वस, पूज्य देवता तुम्हारा यम है।

छाने तुमने अमित लोक, पर, मन को कभी न छाना,
लाखों आविष्कार किये, पर, अपना मर्म न जाना।

दृश्य-दृश्य रटते-रटते कुछ ऐसे दृश्य हुए तुम,
आत्मदेवता के मन्दिर में भी अस्पृश्य हुए तुम।

छूट गई भाषा अदृश्य की अकथ कथा कहने की,
बकते-बकते भूल गये तुम महिमा चुप रहने की।

सतत-चारियो! कभी-कभी रुक जाने में भी सुख है,
अहंकार को भूल कहीं झुक जाने में भी सुख है।

देख लिया, नीचे पृथ्वी, ऊपर अनन्त अम्बर है,
अब तो मानचित्र में खोजो, कहाँ तुम्हारा घर है।

जान चुके, कर दौड़-धूप कुछ और न जान सकोगे,
अब आगे का भेद ठहर कर ही पहचान सकोगे।

विना रुके मिलता न शान्ति का शीतल कूल-किनारा।
युगों में अद्भुत रूप तुम्हारा।

(५)

कहें भी तो उससे क्या बात?
अभी भूख से ही जो प्राणी तड़प रहा दिन-रात,
रोटी की चिन्ता में कटते जिसके सायं-प्रात।

दहक रहे भीषण क्षुधाग्नि से जिसके प्राण अभागे,
निर्दय है, दर्शन परोसता है जो उसके आगे।

रोटी दो, मत उसे गीत दो, जिसको भूख लगी है,
भूखों में दर्शन उभारना छल है, दगा, ठगी है।

रोटी और वसन, ये जीवन के सोपान प्रथम हैं,
नवयुग के चिन्तको! तुम्हें इसमें भी कोई भ्रम है?

व्यष्टि-समष्टि-विवाद व्यर्थ है, झगड़ा मनमाना है,
है समष्टि ही हार, व्यक्ति तो मोती का दाना है।

बूँदें जब गिरतीं समुद्र में, व्यथा कौन पाती हैं?
सागर में मिलकर अगाध सागर ही बन जाती हैं।

आते सारे भाव व्यक्तियों के समाज से छन कर,
पुनः लौट जाते समष्टि में ही वे गायन बन कर।

जैसे मेघ धरा से उठ कर अम्बर पर घिरता है,
और वारि बन फिर वसुधा के ही तन पर गिरता है।

जहाँ व्यष्टि स्वाधीन अधिक है, नाश वहाँ छायेगा,
अनुशासन के बिना व्यक्ति कुछ प्राप्त न कर पायेगा।

झुक समष्टि के सम्मुख जिस दिन व्यष्टि दान देती है,
तभी व्यक्ति के भीतर करुणा-विनय जन्म लेती है।

भरो विश्व-सर में करुणा के कमल सहज अवदात।
कहें भी तो उससे क्या बात?

(६)

वृथा मत लो भारत का नाम।

मानचित्र में जो मिलता है, नहीं देश भारत है,
भू पर नहीं, मनों में ही, बस, कहीं शेष भारत है।

भारत एक स्वप्न, भू को ऊपर ले जानेवाला,
भारत एक विचार, स्वर्ग को भू पर लानेवाला।

भारत एक भाव, जिसको पाकर मनुष्य जगता है,
भारत एक जलज, जिसपर जलका न दाग लगता है।

भारत है संज्ञा विराग की, उज्ज्वल आत्म-उदय की,
भारत है आभा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की।

भारत है भावना दाह जग-जीवन का हरने की,
भारत है कल्पना मनुज को राग-मुक्त करने की।

जहाँ कहीं एकता अखण्डित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में खड़ा वहाँ भारत जीवित, भास्वर है।

भारत वहाँ, जहाँ जीवनसाधना नही है भ्रम में,
धाराओं को समाधान है मिला हुआ संगम में।

जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम,
समरस हो कामना, वहीं भारत को करो प्रणाम।
वृथा मत लो भारत का नाम।

(७)

साधना इस व्रत की भारी।

पग-पग पर हिंसा की ज्वाला, चारों ओर गरल है।
मन को बाँध शान्ति का पालन करना नही सरल है।

तब भी जो नर-वीर असिव्रत दारुण पाल सकेंगे,
वसुधा को विष के विवर्त से वही निकाल सकेंगे।

मना रहे क्यों, यह व्रतपाली केवल भारत होगा?
शेष विश्व हिंसा-लिप्सा में, इसी भाँति, रत होगा?

किसी एक को नहीं, बदलना होगा साथ सभी को,
करना होगा ग्रहण शील भारत का निखिल मही को।

शमित करेगा कौन वह्नि प्रहरी का जाल बिछाकर?
रोकेगा विस्फोट विश्व को बल से कौन दबा कर?

तब उतरेगी शान्ति, मनुज का मन जब कोमल होगा,
जहाँ आज है गरल, वहाँ शीतल गंगाजल होगा।

देश-देश में जाग उठेंगे जिस दिन नर-नारी।
साधना इस व्रत की भारी।

(८)

धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।

शील मुकुट नरता का, सबसे बड़ी भव्यता का है,
नहीं धर्म से बढ़कर कोई मित्र सभ्यता का है।

निरी बुद्धि के लिए भावना का मत दलन करो रे!
जो अदृश्य प्रहरी है, उससे भी तो कभी डरो रे!

शान्ति चाहते हो तो पहले सुमति शून्य से माँगो,
नवयुग के प्राणियो! ऊर्ध्वमुख जागो, जागो, जागो।
धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।

॥ समाप्त ॥